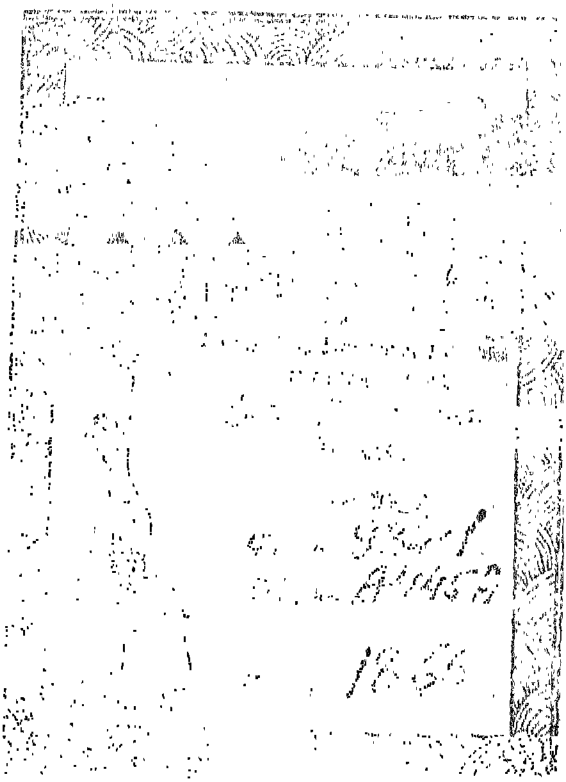


अछूत कौन और कैसे ?

मूल-लेखक

डा० भीमराव आम्बेडकर

अनुवादक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

गौतम बुक डिपो, दिल्ली

१९४९

प्रकाशक—
गौतम बुक डिपो,
नई सड़क,
दिल्ली।

मूल्य — चार रुपया

मुद्रक—
पं० विष्णुदत्त शास्त्री,
प्रबन्धक पी० बी० आई० प्रेस,
नई दिल्ली।



माननीय डा० भीमराव आम्बेडकर

दो शब्द

इन पंक्तियों के लेखक ने जब से डाक्टर भीमराव आम्बेडकर की पहली पुस्तक जाति-भेद का विध्वंस (एनिहिलेशन आफ कास्ट) पढ़ी, तभी से वह उनके पाण्डित्य और मौलिकता का एकनिष्ठ प्रशंसक है। 'पाकिस्तान', 'गान्धी' और 'कांग्रेस' ने अछूतों के लिये क्या किया, शूद्र—वे कौन थे आदि उनके ग्रन्थ, उनके मौलिक-चिन्तन के एक से एक बढ़-कर प्रमाण हैं।

लेखक को हर्ष है कि वह आज उनकी नवीनतम कृति—'अछूत कौन और कैसे ?' का अनुवाद हिन्दी-पाठकों के सम्मुख रखने में समर्थ हुआ है। अनुवाद कैसा बना, इसके निर्णायक पाठक ही हैं।

ग्रन्थ में मूल संस्कृत ग्रन्थों के अनेक उद्धरण आये हैं। डा० साहब ने वे उद्धरण तत्सम्बन्धी उन अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवादों से लिये हैं। जहाँ तक सम्भव हुआ, अनुवादक ने उन उद्धरणों को मूल संस्कृत ग्रन्थों से मिलाकर भी ठोक बजा लिया है और अधिकतर उद्धरण उनके मूल रूप में टिप्पणियों में दे भी दिये हैं। अब वह उनके अनुवाद की ओर से भी निश्चिन्त है।

इतनी सब सावधानी रखने पर भी यदि कहीं कुछ स्खलन हो ही गया हो, तो अनुवादक क्षमा-प्रार्थी है।

इस पुस्तक में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह सब डाक्टर साहब का है, और यदि कुछ इतर है तो उसकी जिम्मेवारी अनुवादक को अपने सिर लेनी ही होगी।

रोहित-कुटीर, वर्धा

२४।२।४६

आनन्द कौसल्यायन

भूमिका

यह पुस्तक एक प्रकार से मेरी दूसरी पुस्तक— "शूद्र—" वे कौन थे और वे कैसे हिन्दी-आर्य समाज का चौथा वर्ण बने" (१९४६ में प्रकाशित) का शेषांश है। शूद्रों के अतिरिक्त हिन्दू सभ्यता ने तीन और सामाजिक वर्गों को जन्म दिया है, जिनकी ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिये, नहीं दिया गया। वे तीन सामाजिक वर्ग हैं:—

(१) जरायम-पेशा जातियाँ, जिन की जन-संख्या लगभग २ करोड़ है;

(२) आदि-वासी जातियाँ, जिन की जन-संख्या लगभग १ करोड़ पचास लाख है;

(३) अछूत जातियाँ, जिन की जन-संख्या लगभग ५ करोड़ हैं।

इन वर्गों का अस्तित्व एक जुगुप्सा का विषय है। यदि हिन्दू-सभ्यता को इन वर्गों के जनक के रूप में देखा जाये, तो वह सभ्यता ही नहीं कहला सकती। यह तो मानवता को दबाये रखने तथा गुलाम बनाने के लिये शैतान का षड्यन्त्र है। इसका ठीक नामकरण शैतानियत होना चाहिये। उस सभ्यता को और हम क्या नाम दें, जिसने ऐसे लोगों की एक बड़ी संख्या को जन्म दिया हो, जिन्हें यह शिक्षा दी जाती है कि चोरी-चकारी करके आजीविका चलाना जीविकोपार्जन का एक मान्य ढंग है, दूसरी बड़ी संख्या, जो सभ्यता के बीचों-बीच अपनी आरम्भिक बर्बर अवस्था बनाये रखने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दी गई है, और एक तीसरी बड़ी संख्या, जिसे सामाजिक व्यवहार से परे की चीज समझा गया है, जिसके स्पर्श मात्र से आदमी "अपवित्र" होता है।

(यदि किसी भी दूसरे देश में ऐसे वर्ग विद्यमान होते तो लोग अपने दिलों को टटोलते और उनके मूल का पता लगाने का प्रयत्न करते

किन्तु हिन्दू को इन दो में से एक भी नहीं सूझी। इसका कारण सरल है—हिन्दू को यह लगता ही नहीं कि, इन वर्गों का अस्तित्व उसके लिये कुछ क्षमा-याचना करने अथवा लज्जा का कारण है। वह न इस विषय में प्रायश्चित करने की अपनी जिम्मेदारी समझता है और न इसकी उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में खोज करने की। दूसरी ओर प्रत्येक हिन्दू को यह विश्वास दिलाया जाता है कि उसकी सभ्यता न केवल सबसे अधिक प्राचीन है किन्तु अनेक दृष्टियों से यह एकदम अनोखी भी है। हिन्दू इन बातों को दोहराने में कभी नहीं थकता। (हिन्दू सभ्यता बहुत प्राचीन है, यह बात समझ में आती है और मानी भी जा सकती है। लेकिन यह बात समझ में नहीं आती कि वह हिन्दू सभ्यता को अनोखी सभ्यता किस आधार पर कहता है। हिन्दुओं को कदाचित यह अच्छा न लगे। किंतु जहाँ तक अहिंदुओं का संबंध है, इस प्रकार की मान्यता का एक ही आधार हो सकता है। यह आधार इन वर्गों का अस्तित्व है, जिनकी जिम्मेदारी हिंदू सभ्यता के सिर है। किसी हिंदू को इस बात के दोहराने की जरूरत नहीं कि हिंदू सभ्यता एक अनोखी चीज है, क्योंकि, कोई इससे इंकार नहीं करता। काश! हिंदू इस बात को समझता कि यह अभिमान करने की नहीं, किंतु लज्जित होने की बात है।)

(हिन्दू सभ्यता की बुद्धिमत्ता, श्रेष्ठता और पवित्रता में लोगों का जो झूठा विश्वास है, उसका मूल कारण हिन्दू विद्वानों का विचित्र सामाजिक मानस शास्त्र है।

आज तमाम पांडित्य ब्राह्मणों में सीमित है। किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक एक भी ब्राह्मण पंडित ने आगे बढ़कर वाल्टेयर जैसा काम नहीं किया। वाल्टेयर में मानसिक ईमानदारी थी, जिसके कारण, वह जिस कैथोलिक चर्च में पला था, उसीके सिद्धान्तों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। भविष्य में भी किसी के वाल्टेयर बनने की सम्भावना नहीं। ब्राह्मणों के पांडित्य की यह एक कड़ी टीका है कि उन्होंने एक भी वाल्टेयर पैदा नहीं किया। इससे कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि यह बात याद रहे कि ब्राह्मण

पंडित विद्वान् भर हैं। वह मनीषी नहीं है। मनीषी और विद्वान् में आकाश-पाताल का अंतर है। पहिला वर्ग चैतन्य होता है। उसे अपने वर्ग के स्वार्थों की चिन्ता रहती है। दूसरा एक मनस्वी-प्राणी होता है, जो अपने वर्ग के स्वार्थों की भी परवाह न कर स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण कर सकता है। ब्राह्मणों ने जो कोई वाल्टेयर पैदा नहीं किया उसका कारण यही है कि ब्राह्मण केवल विद्वान् हुए हैं।

ब्राह्मणों ने कोई भी वाल्टेयर क्यों पैदा नहीं किया? इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरे प्रश्न द्वारा ही दिया जा सकता है।—तुर्की के सुल्तान ने इस्लामी संसार के मजहब को क्यों नष्ट नहीं किया? किसी भी पोप ने केथोलिक धर्म की निन्दा क्यों नहीं की? ब्रिटिश पार्लियामैंट ने तमाम नीली आँखों वाले बच्चों को मार डालने का कानून क्यों पास नहीं किया? सुल्तान, पोप अथवा ब्रिटिश पार्लियामैंट उसी एक कारण से यह सब बातें नहीं कर सकी, जिस कारण से ब्राह्मण कोई वाल्टेयर पैदा नहीं कर सके। यह बात मान लेनी चाहिये कि किसी भी आदमी के आचरण को उसका अथवा उसके वर्ग का स्वार्थ अन्दरूनी तौर पर बाँध देता है, और उसकी बुद्धि भी तदनुसार ही कार्य करती है। ब्राह्मण को आज हिन्दू-समाज में जो शक्ति और पद मिला हुआ है, वह सम्पूर्ण रूप से इस हिन्दू-सभ्यता के ही कारण है, जो उसे मानव से कुछ बढ़कर स्वीकार करती है और निचले वर्गों के लोगों पर नाना प्रकार की पाबंदियाँ लगाती है, जिससे वे कभी विद्रोह करके ब्राह्मण की श्रेष्ठता को अस्वीकार न कर बैठें। जैसा स्वाभाविक ही है प्रत्येक ब्राह्मण—चाहे वह रूढ़िवादी विचार का हो, चाहे प्रगतिशील हो; चाहे वह पुरोहित हो, चाहे गृहस्थ हो; चाहे पंडित हो, चाहे अपंडित हो—का स्वार्थ इस बात में है कि ब्राह्मण का ऊँचा स्थान बना रहे। ब्राह्मण वाल्टेयर किस तरह हो सकते थे? ब्राह्मणों में यदि कोई वाल्टेयर पैदा हो जाय, तो वह उस सभ्यता के लिये एक निश्चित खतरा सिद्ध होगा, जिसकी रचना ही ब्राह्मणों की प्रधानता बनाए रखने के लिए हुई है। बात यह है कि ब्राह्मण की प्रतिभा को इस बात की

चिन्ता बनी रहती है कि उसका स्वार्थ सुरक्षित रहे। उसपर यह एक भीतरी प्रतिबन्ध लगा हुआ है, जिसके कारण उसकी प्रतिभा उस सीमा तक नहीं खिलती, जिस सीमा तक उसकी ईमानदारी और सचाई के कारण उसको खिलना चाहिये। उसे यह डर बना रहता है कि इससे उसके वर्ग और इसलिये अपने स्वार्थों को हानि न पहुँच जाय।

लेकिन जो बात आदमी को चिढ़ाती है, वह ब्राह्मणी साहित्य की पोल खोलने के किसी भी प्रयत्न के प्रति ब्राह्मण पंडित की असहन-शीलता है। वह स्वयं तो जहाँ आवश्यक भी हो वहाँ भी मूर्ति-भंजक का काम नहीं करेगा। वह ऐसे अब्राह्मणों को भी, जिनमें यह कार्य करने की योग्यता है, नहीं करने देगा। यदि कोई अब्राह्मण ऐसा प्रयत्न करे तो यह ब्राह्मण पंडित साजिश करके चुप्पी साध लेंगे, उसके कथन की ओर ध्यान ही नहीं देंगे। किसी मामूली बात को लेकर उसका एकदम विरोध करेंगे अथवा उसकी कृति को एकदम निकम्मा ठहरा देंगे। ब्राह्मणी साहित्य की पोल खोलने के काम में लगे हुए एक लेखक के नाते मैं इस प्रकार के नीचतापूर्ण व्यवहार का शिकार हो चुका हूँ।

ब्राह्मण पण्डितों के रुदन के बावजूद, जिस कार्य की मैंने जिम्मेदारी ली है, वह मुझे करते रहना चाहिये। इन वर्गों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह एक ऐसा विषय है, जिस में खोज करने की आवश्यकता है। इस पुस्तक में इन अभागे वर्गों में से एक पर विचार किया गया है। तीनों में "अछूतों" की ही संख्या सबसे अधिक है। उन्हीं का अस्तित्व भी सबसे अधिक अस्वाभाविक है। ऐसा होने पर भी अभी तक उनके "मूल" का पता लगाने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। हिन्दुओं ने ऐसा प्रयत्न आरम्भ न किया हो, यह बात अच्छी तरह समझ में आती है। पुराने रूढ़िवादी हिन्दू को "छूत-छात" मानने में कोई दोष ही नहीं दिखाई देता। उसके लिये यह एक सामान्य और स्वाभाविक बात है। इसलिये न इस सम्बन्ध में किसी प्रायश्चित्त की आवश्यकता है और न व्याख्या की। आधुनिक नये विचार के हिन्दू को इसमें दोष दिखाई देता है, लेकिन वह

उसकी सार्वजनिक तौर पर चर्चा करते हुए लज्जा आती है। उसे इस बात का डर लगा है, कि कहीं विदेशी यह न भांप जायें कि हिन्दू-सभ्यता इस प्रकार की निन्दनीय तथा विषभरी पद्धति अथवा सामाजिक व्यवस्था की जनक हो सकती है, जैसी यह "अछूतपन"। लेकिन आश्चर्य की बात है कि "अछूतपन" ने सामाजिक संस्थाओं के यूरोपियन विद्यार्थी का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं किया। ऐसा क्यों हुआ ? यह समझ में आना कठिन है। लेकिन बात ऐसी ही है।

इसलिये यह पुस्तक एक विषय में, जिसकी हर किसी ने उपेक्षा की है, मार्ग-दर्शक प्रयत्न समझा जा सकता है। यदि मैं कह सकूँ, तो यह पुस्तक न केवल मुख्य प्रश्न के हर पहलू पर विचार करती है, जिस पर विचार करना इसका उद्देश्य है, अर्थात् "अछूतपन" की उत्पत्ति के प्रश्न पर; अपितु यह इस सम्बन्ध के लगभग अन्य सभी प्रश्नों पर भी विचार करती है। कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं कि जिनका बहुत ही थोड़े लोगों को ज्ञान भी है। जिन्हें ज्ञान है, वे उनके मारे हैरान हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि उनका क्या उत्तर दें ? इन प्रश्नों में से कुछ, जिनपर इस पुस्तक में विचार किया गया है, ऐसे हैं जैसे (१) 'अछूत गाँव के बाहर क्यों रहते हैं ?' (२) 'गोमांसाहार अछूतपन का कारण क्यों हुआ ?' 'क्या हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया ?' 'अब्राह्मणों ने गो-मांस खाना क्यों छोड़ दिया ?' 'ब्राह्मण क्यों शाकाहारी आदि बन गये ?' इस पुस्तक में, इनमें से प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सुझाया गया है। सम्भव है कि इस पुस्तक में जो उत्तर दिये गये हैं, वे सभी दृष्टियों से सम्पूर्ण न हों, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि यह पुस्तक पुरानी बातों पर एक नई दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न अवश्य है।

इस पुस्तक में "अछूत-पन" की उत्पत्ति के बारे में जो विचार-सरणी दी गई है, वह सर्वथा नवीन है। उसकी मुख्य धारायें ये हैं :—

(१) "हिन्दुओं" और "अछूतों" में 'नसल' की कोई भिन्नता नहीं।

(२) "अछूतपन" की उत्पत्ति से पहले अपने मूल-रूप में "हिन्दुओं"

और "अछूतों" का भेद एक दल के आदमियों तथा पराये दलों के छितरे हुए आदमियों (Broken men) का विभेद था। ये छितरे हुए आदमी ही आगे चलकर "अछूत" कहलाये।

(३) जिस प्रकार 'नसल' की भिन्नता "अछूतपन" का आधार नहीं है, उसी प्रकार पेशों की भिन्नता भी "अछूत-पन" का आधार नहीं है।

(४) अछूतपन की उत्पत्ति के मूल कारण दो हैं :—

(क) ब्राह्मणों की 'छितरे-हुए' बौद्धों के प्रति घृणा।

(ख) दूसरों के गो-मांस-भक्षण छोड़ देने पर भी छितरे हुए आदमियों का गो-मांस खाते रहना।

(५) "अछूतपन" के मूल का पता लगाने के प्रयत्न में हमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि हम "अछूत" और "अपवित्र" को एक न बना दें। जितने रूढ़ि-वादी हिन्दू लेखक हैं, उन्होंने "अछूत" और "अपवित्र" को एक कर दिया है। यह एक गलती है। "अछूत" और हैं, तथा 'अपवित्र" और।

(६) यद्यपि एक वर्ग के तौर पर धर्म-शास्त्रों के ही समय में "अपवित्र" लोगों का जन्म हो गया था, किन्तु "अछूत" ४०० ई० के भी बहुत बाद में अस्तित्व में आये।

ये निष्कर्ष मेरी ऐतिहासिक खोजों के परिणाम हैं। एक इतिहासज्ञ को अपने सामने जो आदर्श रखना चाहिये, उसे 'मोमसे' ने उपयुक्त शब्दों में रखा है। उसका कथन है :—

"इतिहासज्ञ का कर्तव्य है कि वह सत्य को असत्य से, निश्चित को अनिश्चित से तथा संदिग्ध को अस्वीकरणीय से पृथक् करे......। हर एक खोजी को सर्वोपरि अपने आपको ऐसा समझना चाहिए मानों वह किसी मुकद्दमे का निर्णय करने के लिये बैठा है। उसे केवल इस बात पर विचार करना है कि गवाहियों के हिसाब से मुकद्दमे का पूरा और स्पष्ट रूप क्या है ? तब उसे अपना निष्कर्ष निकालना है और अपना मत

(निर्णय) देना है, भले ही उससे पहले आदमी से उसका निर्णय मेल खाये, चाहे न खाये।"

गोएके के इस उपदेश के अनुसार आचरण करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, यदि तत्सम्बन्धी आवश्यक घटनायें ज्ञात हों। यह तमाम उपदेश बहुत मूल्यवान् है और आवश्यक भी। किन्तु गोएके हमें यह नहीं बताता कि इतिहासज्ञ को जब बीच की एक कड़ी ही न मिले तो इतिहासज्ञ क्या करे, जब उसे महत्वपूर्ण घटनाओं के बीच के परस्पर के सम्बन्ध का कोई सीधा प्रमाण ही न मिले। मैं यह इसलिये कह रहा हूँ कि "अछूत-पन" के मूल की खोज करने तथा दूसरी ऐसी सम्बन्धित समस्याओं को हल करने के अपने प्रयत्न में मुझे कई अदृश्य हुई कड़ियों से पाला पड़ा है। निस्सन्देह इस मामले में मैं ही अकेला नहीं हूँ। प्राचीन भारतीय इतिहास के सभी विद्यार्थियों को उनका मुकाबला करना पड़ा है। भारतीय-इतिहास ही की चर्चा करते हुए माउन्ट स्टूअर्ट एरिफस्टन ने लिखा है :— "अलक्षेन्द्र के आगमन के पूर्व की किसी सार्वजनिक घटना की तिथि बता सकना कठिन है, और इस्लाम की विजय से पूर्व प्राकृतिक-परिवर्तनों में किसी प्रकार के कार्य कारण-सम्बन्ध को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करना भी (कठिन है)।" यह एक खेद-भरी स्वीकृति है, किन्तु इससे हमें कुछ सहायता नहीं मिलती। प्रश्न है : "इतिहास का विद्यार्थी क्या करे? क्या जब तक उसे खोई कड़ी न मिल जाये, तब तक अपने काम को रोक दे?" मैं ऐसा नहीं समझता। मेरी मान्यता है कि ऐसी अवस्था में उसे इस बात की छुट्टी है कि वह अपनी कल्पना तथा अन्तर्दृष्टि को काम में लाये और उससे घटनाओं की जंजीर के बीच की खोई हुई कड़ियों की कमी को नई अज्ञात कड़ियों से पूरा करने की कोशिश करे। वह किसी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करे, जिसे ठीक मान कर आगे बढ़ा जा सके और यह सुझाये कि जिन घटनाओं की ज्ञात घटनाओं से किसी तरह व्याख्या नहीं होती उनमें कार्य–कारण का क्या सम्बन्ध रहा होगा। मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि काम को रोक देने की बजाय मैंने इसी पद्धति का

अनुसरण किया है, और इसी तरह उस कठिनाई से पार पाने का प्रयत्न किया है, जो मेरे सामने (घटनाओं की) खोई हुई कड़ियों के न मिलने के कारण उपस्थित हुई।

सम्भव है आलोचक मेरी इस 'कमी' का उपयोग मेरी सारी विचार-सरणी को ही रद्दी की टोकरी में डाल देने के लिये करें और कहें कि यह ऐतिहासिक-खोज के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है। यदि आलोचकों का यही मत हो तो मैं उन्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि यदि कोई ऐसा नियम है जो ऐतिहासिक निष्कर्षों पर शासन करता है और कहता है कि किसी मत को केवल इस लिए अस्वीकार करदो कि उसकी सीधी-साक्षी नहीं मिलती तो वह नियम ही खराब नियम है।

(१) सीधी-साक्षी बनाम अनुमान प्रमाण, तथा (२) अनुमान प्रमाण बनाम कल्पना, के विवाद में न पड़ कर आलोचक को जो काम करना चाहिये, वह यही है कि वह देखे कि क्या कोई मत केवल अटकल पर निर्भर करता है ? (२) कि क्या वह मत सम्भव है, और क्या वह मेरे मत की अपेक्षा ज्ञात बातों से अधिक मेल खाता है ?

पहली बात के बारे में मैं कह सकता हूँ कि केवल इसलिये कि इसमें कहीं-कहीं 'कल्पना' से काम लिया गया है, कोई मत निराधार नहीं माना जा सकता। मेरे आलोचकों को याद रखना चाहिये कि हम एक ऐसी संस्था का विचार करने जा रहे हैं, जिसका मूल अतीत के गर्भ में विलीन हो चुका है। "अछूतपन" की उत्पत्ति की व्याख्या करने का यह प्रयत्न, किन्हीं ग्रन्थों में, जिनमें सब बातें निश्चयात्मक भाषा में दी हुई हों, इतिहास लिखने के समान नहीं। यह तो जहाँ साहित्यिक आधार अविद्यमान है, वहाँ इतिहास की पुनर्रचना का प्रश्न है; क्योंकि जहाँ वह है भी वहाँ भी उसने इस समस्या पर कोई सीधा प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसी परिस्थिति में ग्रन्थों में डुबकी लगाकर यह पता लगाने का प्रयत्न करना ही पड़ेगा कि वह ग्रन्थ क्या क्या बातें सुझाते हैं और किस किस बात को छिपाते हैं, बिना इस बात का पूर्ण निश्चय हुए—कि जो मिला है, वह सत्य भी है या नहीं—अतीत

के अवशेषों का संग्रह करना, उन्हें एक दूसरे के पास पास रखना और उनसे उनकी उत्पत्ति की कहानी सुनना—यही यह कार्य है। इस कार्य की उपमा उस पुरातत्ववेत्ता के कार्य से दी जा सकती है, जो खण्डहरों से शहर का निर्माण करे, अथवा उस प्राणी-शास्त्र-वेत्ता के कार्य से जो किसी प्राणी की बिखरी पड़ी हड्डियों और उसके दाँतों से उस प्राणी की कल्पना करता है अथवा उस चित्रकार के कार्य से जो किसी दृश्य के निर्माण के लिए क्षितिज की रेखाओं और पहाड़ी पर के छोटे से छोटे पद-चिन्हों का अध्ययन करता है। इस दृष्टि से यह एक इतिहास-पुस्तक से भी अधिक एक कला-कृति है। "अछूतपन" का मूल उस मृत-अतीत के गर्भ में विलीन है, जिसकी किसी को जानकारी नहीं। उसे जीवित करने का प्रयत्न ऐसा ही है, जैसा इतिहास के लिए किसी शहर का पुनरुद्धार करना जो अनन्त काल से अभाव-प्राप्त है, और जिसे उसके मूल-रूप में लाकर खड़ा कर देना है। ऐसे कार्य में 'कल्पना' तथा 'अनुमान' को अपना बड़ा हिस्सा लेना ही होगा। उसके बिना यह कार्य्य हो नहीं सकता। लेकिन वह अपने में इस मत को रद्दी की टोकरी में फेंकने का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि "शिक्षित कल्पना" के बिना कोई वैज्ञानिक-खोज सफल हो ही नहीं सकती, और 'अनुमान' ही विज्ञान की आत्मा है। मैक्सिम गोर्की का कथन है :—

"विज्ञान और साहित्य में बहुत बात समान है, दोनों में ही ध्यान से देखने, तुलना करने और अध्ययन करने का विशेष महत्व है; कलाकार को भी वैज्ञानिक की ही कल्पना और अंतर्दृष्टि की आवश्यकता रहती है। कल्पना और अंतर्दृष्टि अभी तक अज्ञात-कड़ियों द्वारा घटनाओं की जंजीर की खोई हुई कड़ियों की कमी को पूरा करती है। वह वैज्ञानिक को इस बात की आज्ञा देती है कि वह ऐसे अनुमान लगाये और इस प्रकार के मत का प्रतिपादन करे, जो प्रकृति के रूप और उसकी प्रक्रिया के अध्ययन में लगे हुए आदमी के मन को कम या अधिक ठीक ठीक रास्ता दिखा सके। ये साहित्य-निर्माण की चीजें हैं; पात्रों और "नमूनों" का निर्माण करने

की कला में कल्पना, अंतर्दृष्टि, और अपने मन में चीजें बना सकने की योग्यता की अपेक्षा रहती है।"

इसलिए जहाँ कड़ियाँ खोई हुई हैं, वहाँ उनके पुनः निर्माण करने का प्रयत्न करने के लिए मुझे क्षमा-याचना करने की जरूरत नहीं है। और केवल इसी कारण मेरा मत "दूषित" भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि कहीं भी केवल अटकल ही कड़ियों के निर्माण का आधार नहीं होती, अधिकांश में मेरी सारी विचार-सरणी अथवा मत का आधार यथार्थ-घटनायें और उनसे जो अनुमान निकाले गये वे ही हैं। और जहाँ जहाँ यथार्थ-घटनाओं या उनसे प्राप्त अनुमानों का आधार नहीं लिया गया वहाँ वहाँ उसका आधार सम्भावना की पर्य्याप्त-मात्रा पर आश्रित परिस्थिति-जन्य गवाही है। ऐसी एक भी बात नहीं है, जो मैंने अपने कथन के समर्थन में कही हो और जिसके बारे में मैंने अपने पाठकों से आशा की हो कि वे बिना किसी प्रमाण के केवल "विश्वास" के बल पर स्वीकार करलें। मैंने कम से कम यह दिखा दिया है कि जो कुछ मैंने कहा है, उसके पक्ष में सम्भावनाओं की बहुत मात्रा है। यह कहना कि सम्भावना की बहुत मात्रा किसी निर्णय को सप्रमाण मानने का पर्य्याप्त आधार नहीं है, केवल बाल की खाल निकालना है।

दूसरी बात, जिस पर मैं चाहता हूँ कि मेरे आलोचक ध्यान दें, वह यह है कि मैं ऐसा 'ओझा' नहीं हूँ कि अपने कथन को 'अन्तिम-सत्य' मान बैठूँ। मैं उनसे इसे 'अन्तिम-शब्द' मानने की प्रार्थना नहीं करता। मैं उनके अपने निर्णय को प्रभावित नहीं करना चाहता। वे अपने निर्णय पर पहुँचने में स्वतन्त्र हैं। मैं उनसे जो बात निवेदन करना चाहता हूँ, वह इतनी ही कि वे यह विचार कर देखें कि क्या मेरा यह मत ऐसा नहीं है कि जिसे लेकर आगे बढ़ा जा सके, और इसलिये, कम से कम इस समय के लिये, सप्रमाण; यदि किसी भी मत की प्रामाणिकता इस बात में है कि वह आसपास की सभी बातों से मेल खाता हो, उनकी व्याख्या कर देता हो और उन्हें एक अर्थ दे देता हो—ऐसा अर्थ जो उस मत के अभाव में किया

ही नहीं जा सकता । मैं अपने आलोचकों से एक निष्पक्ष मूल्यांकन के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता ।

१ जनवरी १९४८ भीमराव आम्बेडकर

१ हार्डिंग एवेन्यू,

नई दिल्ली ।

विषय-सूची

एक

अहिन्दुओं में अछूतपन

अछूत कौन हैं और अछूतपन कैसे पैदा हुआ है ? यही वह मुख्य प्रश्न है जिसका उत्तर इन पृष्ठों में देने का प्रयत्न किया गया है।

विषय की गहराई में उतरने से पहले कुछ आरम्भिक प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। पहला प्रश्न है कि क्या संसार में केवल हिन्दू ही हैं जो अछूतपन मानते हैं ? यदि अहिन्दुओं में भी अछूतपन है तो हिन्दुओं के अछूतपन और अहिन्दुओं के अछूतपन में क्या अन्तर है ? दुर्भाग्य से अभी तक किसी ने ऐसा तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया। इसीका परिणाम है कि यद्यपि अनेक लोग यह जानते हैं कि हिन्दुओं में अछूतपन है, किन्तु वे यह नहीं जानते कि इसका अनोखापन क्या है ? इसके अनोखेपन और इसकी विशेषताओं को यथार्थ रूप से समझ लेने से ही अछूतों की यथार्थ स्थिति समझ में आ सकती है और उसी से अछूतपन की उत्पत्ति भी जानी जा सकती है।

यह अच्छा ही होगा कि पहले हम इस बात की जाँच करें कि आरम्भिक और प्राचीन समाज में स्थिति क्या थी ? क्या वे अछूतपन को स्वीकार करते थे ? सबसे पहले हमें यह बात स्पष्ट होनी चाहिये कि वे अछूतपन से क्या समझते थे ? इस बारे में सभी का एक ही मत होगा सभी इस बात को स्वीकार करेंगे कि अछूतपन का आधार गन्दगी, अपवित्रता तथा 'छूत' लग जाने की कल्पना और उससे मुक्त होने के तरीके तथा साधन हैं।

जब आरम्भिक समाज के सामाजिक जीवन की परीक्षा इस उद्देश्य से की जाती है कि हमें पता लगे कि वे लोग उपरोक्त अर्थ में अछूतपन से परिचित थे या नहीं, तो इसमें सन्देह नहीं रहता कि आरम्भिक समाज न

केवल 'अपवित्रता' की कल्पना से परिचित ही नहीं था किन्तु उसके इस विश्वास के कारण धार्मिक क्रियाकलापों की एक जीवित पद्धति बन गई थी।

आरम्भिक मनुष्य विश्वास करता था कि :—

(१) कुछ विशेष घटनाओं के घटने से,

(२) कुछ विशेष वस्तुओं के स्पर्श से, और

(३) कुछ विशेष व्यक्तियों के स्पर्श से अपवित्रता होती है।

आरम्भिक मनुष्य का यह भी विश्वास था कि "अपवित्रता" एक आदमी से दूसरे आदमी में भी चली जाती है। उसे वह समझता था कि यह "अपवित्रता" का एक से दूसरे में चला जाना विशेष अवस्थाओं में, विशेष रूप से होता है; जैसे खाने-पीने आदि के प्राकृतिक कृत्यों के समय। जीवन की जिन घटनाओं को आरम्भिक मनुष्य "अपवित्रता" का कारण मानता था, उनमें निम्नलिखित मुख्य थीं :—

(१) जन्म

(२) दीक्षा

(३) बालिग होना

(४) विवाह

(५) संभोग

(६) मृत्यु

जिन माताओं को संतान होने वाली होती वे "अपवित्र" और दूसरे में "अपवित्रता" फैलाने वाली मानी जाती थीं। माताओं की "अपवित्रता" बच्चों तक भी फैलती थी।

संस्कार और बालिग हो जाना जीवन की वे अवस्थायें हैं जो स्त्री-पुरुष के संपूर्ण ऐन्द्रियक तथा सामाजिक जीवन में प्रवेश की द्योतक हैं। उन्हें एकांत में रहना होता था, विशेष भोजन खाना होता था, बार बार स्नान करना होता था, शरीर पर उबटनादि लगाना पड़ता था और अङ्ग-छेद भी, जैसे खतना। अमरीका की जातियों में जिन लोगों का संस्कार

होता था वे न केवल विशेष-भोजन ग्रहण करते थे किन्तु समय समय पर ऐसी औषधि भी लेते थे जिससे उन्हें वमन हो जाय।

विवाह के साथ जो रीति-रिवाज होते थे उनसे ऐसा मालूम होता कि प्रारम्भिक मनुष्य विवाह को अपवित्र समझता था। कभी-कभी विवाहिता को अपनी जाति के आदमियों के साथ सम्भोग सहन करना पड़ता था जैसा कि आस्ट्रेलिया में; अथवा जाति के मुखिया या वैद्य के साथ जैसा कि अमरीका में; या पति के मित्रों द्वारा जैसा कि पूर्व-अफ्रीका की जातियों में। कभी-कभी पति तलवार से पत्नी को एक खरोंच लगाता। कभी-कभी, जैसे मुंडा जाति में, पति से शादी होने से पहले पत्नी को वृक्ष से शादी करनी पड़ती थी। ये जितने भी रीति-रस्म थे उनका उद्देश्य इतना ही था कि वह विवाह को "अपवित्रता" से बचाये रखें।

प्रारम्भिक मनुष्य के लिये "मृत्यु" सबसे अधिक "अपवित्रता" का कारण थी। न केवल मृतदेह किन्तु मृत-व्यक्ति की वस्तुओं को ले लेना भी, "अपवित्र" होना था। औजारों और शस्त्रों को मृत-व्यक्ति की देह के साथ इतनी अधिक संख्या में कब्र में गाड़ देने की प्रथा का यही तात्पर्य था कि लोग इन वस्तुओं के उपयोग को खतरनाक तथा अभाग्यपूर्ण समझते थे।

वस्तुओं के स्पर्श से जो अपवित्रता पैदा होती थी उसकी चर्चा करें तो प्रारम्भिक मनुष्य ने यह सीख लिया था कि कुछ वस्तुयें "पवित्र" हैं, और कुछ अन्य "अपवित्र"। यदि कोई आदमी किसी "पवित्र" वस्तु को छू दे तो यही माना जाता था कि उसने उसे "अपवित्र" कर दिया। "पवित्र" और सामान्य-लौकिक वस्तुओं के एक दूसरे से पृथक्-करण का एक बहुत ही ध्यान आकर्षित करने वाला उदाहरण 'टोड' लोग हैं, जिनके विस्तृत रीति-रस्मों तथा सामाजिक-संस्थान का सारा आधार वे प्रयत्न ही हैं जो वे अपने "पवित्र" ढोरों को, "पवित्र" डेरी-फार्मों को, "पवित्र" बर्तनों को, "पवित्र" दूध को और उन लोगों को जिनका काम इन रीति-रस्मों को करना है "पवित्र" बनाये रखने के लिये करते हैं। डेरी-फार्मों में जो "पवित्र" बर्तन रहते हैं वे सदा पृथक् कमरे में रखे जाते हैं और उन बर्तनों में दूध तभी पहुँच सकता

है जब पहले वह दूसरे कमरे में रखे हुए एक बीचके दूसरे बर्तन में डाला जाय: और इस प्रकार बिना इस बीच के दूसरे बर्तन में डाले उन बर्तनों में से दूध निकाला भी नहीं जा सकता। ग्वाला, जो पुरोहित भी होता है, एक विस्तृत संस्कार के बाद ही अपना काम आरम्भ कर सकता है। इस प्रकार वह सामान्य आदमी के दर्जे से ऊँचा उठा लिया जाता है और वह उस "पवित्र" कृत्य को करने के योग्य हो जाता है। उसको गाँव में विशेष अवसरों पर ही सोने की आज्ञा होती है और ऐसे ही दूसरे नियमों से उसका जीवन परिचालित रहता है। यदि वह "पवित्र" ग्वाला किसी की मिट्टी के साथ चला जाय तो फिर वह अपने "पवित्र" कृत्यों को करने के अयोग्य हो जाता है। इस सबसे यही अनुमान लगाया गया है कि इनमें से अधिकांश रीति-रिवाजों का एक ही उद्देश्य है कि सांसारिकता के खतरों से रक्षा हो और "पवित्र" वस्तु को उन लोगों के उपभोग के योग्य बनायें जो स्वयं "पवित्र" है।

इस "पवित्रता" की भावना का सम्बन्ध केवल वस्तुओं से ही नहीं था। लोगों के कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग भी थे जो "पवित्र" समझे जाते थे। कोई आदमी यदि उन्हें छू देता, तो यह उनकी "अपवित्रता" का कारण होता। पोलीनेशियन लोगों में एक अपने से हीन व्यक्ति के स्पर्श से मुखिया की पवित्रता नष्ट हो जाती थी; यद्यपि ऐसा होना हीन व्यक्ति के लिये ही हानिकर था। दूसरी ओर 'इफाते' में जो पवित्र आदमी संस्कार-संबंधी अपवित्रता से सम्बन्ध रखता था उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती थी। 'उगांडा' में एक मन्दिर के निर्माण से पहले आदमियों को चार दिन केवल इसलिये दिए गए थे कि वे अपने आपको पवित्र बना लें। दूसरी ओर मुखिया और उसकी चीजें प्रायः इतनी अधिक पवित्र मानी जाती रही हैं कि यदि कोई हीन दर्जे का आदमी उनको उपयोग में लाये तो यह उसके लिये अच्छा नहीं होता। 'टोंगा' द्वीप में जो आदमी किसी मुखिया का स्पर्श करे वह निषिद्ध हो जायगा। यह दोष किसी बड़े अफसर के पैर के तलों को स्पर्श करने से दूर होगा। मलाया प्रायद्वीप के मुखिया की "पवित्रता" राज-कीय-चिन्ह में विराजती थी और यदि कोई उसका स्पर्श करे तो वह गम्भीर बीमारी अथवा मृत्यु को निमंत्रण देता था।

विदेशी लोगों से मिलने से भी आरम्भिक मनुष्य 'अछूत' बन जाते थे। दक्षिण अफ्रीका की एक जाति, ब थो बा के लोगों का विश्वास है कि जो लोग अपने देश से बाहर जाते हैं, उन पर बाहरी भूतात्माओं का प्रभाव हो जा सकता है। विदेशी वर्जित थे; क्योंकि विदेशी देवताओं की पूजा करने से उनके बुरे प्रभाव पड़ते थे। इसलिये उन्हें या तो "धूनी" दी जाती थी अथवा किसी दूसरे तरीके से 'पवित्र' बनाया जाता था। 'डीयरी' और उसके पड़ोस की जातियों में स्वजातीय व्यक्ति भी जब बाहर से लौटता तो उसके साथ एक विदेशी का सा ही व्यवहार होता था, और जब तक वह बैठ न जाय तब तक उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

अपरिचित देश से आने वालों के लिये जितना खतरा था, अपरिचित देश में जाना भी उतना ही खतरनाक था। आस्ट्रेलिया में जब एक जाति की दूसरी जाति से 'मिलनी' होती, तो वे वायु-शुद्धि के लिए जलती हुई मशालें आगे-आगे लेकर चलते थे, ठीक वैसे ही जैसे स्पार्टा देश के नरेश जब युद्ध के लिये जाते तो उनके आगे-आगे वेदी की पवित्र आग चलती थी।

इसी प्रकार जो बाहर से किसी घर में प्रवेश करते थे, उन्हें चाहे पाँव के जूते उतारना ही सही, कोई न कोई रीति निबाहनी पड़ती थी, अन्यथा इस बात का पूरा डर था कि वे घर के लोगों को बाहर की छूत लगा कर 'अपवित्र' कर देंगे और देहली तथा चौखट—बाह्य संसार से सम्पर्क के मुख्य साधन—पर खून लगा दिया जाता अथवा पानी छिड़क दिया जाता था; जब भी घर का कोई आदमी किसी को छू देने से "अपवित्र" बना देने की स्थिति में हो। कभी-कभी घर के दरवाजे पर घोड़े की एक नाल लटका दी जाती थी जिस से बरे प्रभावों से रक्षा हो और घर में सौभाग्य आये।

इसमें सन्देह नहीं कि जन्म, मृत्यु तथा विवाह के साथ जितने भी रीति-रिवाज होते थे उन सब का एकमात्र यही मतलब नहीं था कि ये जन्मादि 'अपवित्रता' के स्रोत ही हैं; लेकिन जब और जहाँ जहाँ भी पृथकरण

होता है, उससे इतना तो ग्रहण करना ही होता है कि वह और बातों के साथ "अपवित्रता" का भी द्योतक है। जन्म, दीक्षा, विवाह तथा मृत्यु होने पर पृथक्करण होता है और जो "अपवित्र" है अथवा जो 'बाह्य' है, उसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार होने पर भी।

बालक का जन्म होने पर माता को पृथक् कर दिया जाता है। बालिग होने पर और दीक्षित होने पर भी कुछ समय पृथक् रहना पड़ता है। विवाह में मंगनी से लेकर विवाह-संस्कार हो जाने तक पति पत्नी एक दूसरे से दूर-दूर रहते हैं। स्त्री जब मासिक-धर्म में होती है तो पृथक् रहना पड़ता है। मृत्यु होने पर पृथक्करण विशेष रूप से होता है। मृत-व्यक्ति की देह ही नहीं उसके सम्बन्धियों तक को शेष सब लोगों से दूर-दूर रहना पड़ता है। यह पृथक्करण उनके बढ़े हुए बालों तथा नाखूनों से और पुराने कपड़ों के पहनने से स्पष्ट होता है। इसका अर्थ हुआ कि समाज के नाई, धोबी आदि ने उनका बहिष्कार कर रखा है। पृथक्करण का समय और उसकी कड़ाई समान नहीं होती, किन्तु पृथक्करण तो होता ही है। यदि "पवित्र" को किसी सामान्य-लौकिक व्यक्ति ने "अपवित्र" कर दिया हो, अथवा स्वजाति से ही "अपवित्रता" हो अथवा स्वजाति से बाहर के किसी सम्बन्ध के कारण "अपवित्रता" उत्पन्न हुई हो तो पृथक्करण होता ही है। सामान्य-लौकिक व्यक्ति को "पवित्र" आदमी से दूर-दूर रहना ही चाहिए। अपने सम्बन्धी को असम्बन्धी से दूर-दूर रहना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि आरम्भिक-समाज में "अपवित्रता" के कारण को पृथक् किया जाता था।

"अपवित्रता" की कल्पना के साथ साथ आरम्भिक समाज ने "पवित्र" बना सकने वाले रीति-रिवाजों की भी कल्पना कर ली थी, जो "अपवित्रता" को दूर भगा सकें।

"अपवित्रता" को दूर करने के साधन 'पानी' और 'रक्त' हैं। जो आदमी "अपवित्र" हो गया हो वह यदि 'पानी' और 'रक्त' छिड़क ले तो वह "पवित्र" हो जाता है। "पवित्र" बनाने वाले रीति-रिवाजों में मन्त्रों का

बदलना, बालों तथा नाखूनों आदि का कटाना, पसीना निकालना, आग-तापना, धूनी देना, सुगन्धित पदार्थों का जलाना और किसी शाखा से झाड़-फूँक करना शामिल हैं।

ये "अपवित्रता" को दूर भगाने के साधन थे। किन्तु आरम्भिक समाज "अपवित्रता" से बचने का एक और उपाय भी जानता था। वह था एक की "अपवित्रता" दूसरे पर लाद देना। यह किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति पर जो पहले से ही वर्जित अथवा बहिष्कृत होता था लाद दी जाती थी।

न्यूज़ीलैण्ड में यदि एक आदमी दूसरे के सिर को स्पर्श कर देता था, तो सिर शरीर का "पवित्र" भाग होने के कारण, वह आदमी 'वर्जित' हो जाता था। तब उसे अपने हाथों को एक प्रकार की जड़-विशेष से रगड़ कर अपने को "पवित्र" बनाना होता था। वह जड़ मातृ-पक्ष में जो परिवार का मुखिया होता, उसका भोजन बनती थी। टांगा में यदि कोई आदमी "वर्जित" भोजन ग्रहण कर लेता तो उसके "बुरे" प्रभाव से बच निकलने का यही उपाय था कि वह अपने पेट पर परिवार के मुखिया का पैर रखवाये।

एक की "अपवित्रता" दूसरे में चली जाने की कल्पना 'बलि के बछड़े' की रीति से प्रकट होती है फिजी में यदि कोई वर्जित आदमी एक सूअर पर अपने हाथ धो देता तो वह मुखिया के लिये "पवित्र" हो जाता। उगण्डा में जब राजा के लिए शोक मनाने का समय समाप्त होता तो एक 'बलि के बछड़े' के साथ एक गऊ, एक बकरी, एक कुत्ता, एक मुर्गी, और राजा के घर की कुछ मिट्टी और आग बनयोरो की सीमा पर पहुँचा दी जाती। वहाँ उन पशुओं को लंगड़ा-लूला बनाकर मरने के लिये छोड़ दिया जाता। इस रीति से राजा और रानी की सारी "अपवित्रता" के दूर हो जाने का विश्वास था।

यह बातें हैं जो आरम्भिक समाज में "अपवित्रता" सम्बन्धी कल्पना का अस्तित्व सिद्ध करती हैं।

(२)

यदि हम आरम्भिक समाज के बाद 'प्राचीन समाज' का विचार करें

तो प्राचीन-समाज की "अपवित्रता" की कल्पना आरम्भिक समाज की "अपवित्रता" की कल्पना से कुछ विशेष भिन्न न थी। "अपवित्रता" के स्रोत में अथवा कारणों में भेद है। "पवित्र" बनाने वाले रीति-रिवाज भी भिन्न २ हो सकते हैं। किन्तु इन भेदों के अतिरिक्त आरम्भिक समाज और प्राचीन-समाज में "अपवित्रता" तथा "पवित्रता" का जो ढांचा है, वह वही है।

मिश्र देश की "अपवित्रता"-पद्धति की यदि आरम्भिक-समाज की "अपवित्रता"-पद्धति से तुलना की जाय तो दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि मिश्र देश में यह अधिक ब्योरेवार हो गई।

यूनानियों में रक्त-प्रवाह, भूतावेश, मृत्यु, संभोग, बालक का जन्म, शौच, निषिद्ध भोजनों का खाना जैसे शोरबा-विशेष, मक्खन और लहसुन, अनधिकृत आदमियों का "पवित्र" स्थानों में चले आना और विशेष अवस्थाओं में गाली देना तथा झगड़ा करना भी 'अपवित्रता' के कारण माने जाते थे। और "पवित्रता" के साधन (जिन्हें सामूहिक रूप से यूनानी 'कापोइया' कहते थे) अभिमन्त्रित-जल, गन्धक, प्याज, धूप देना, आग, कुछ पेड़ों की शाखायें, दूसरी बनस्पति, अलकतरा, ऊन, कुछ पत्थर और तावीज, सूर्य-रश्मि, स्वर्ण सदृश चमकदार वस्तुयें, बलि के पशु, विशेष रूप से सूअर और उनमें भी उनका रक्त और मांस, कुछ उत्सव और उन अवसरों पर किये जाने वाले रीति-रिवाज, विशेष रूप से शाप देना तथा "बलि का बछड़ा"। "पवित्रता" का एक असाधारण तरीका "अपवित्र" आदमी के सिर के बाल काटना और देवता से उसका संबन्ध स्थापित करना भी था।

रोम-वासियों की "अपवित्रता" और "पवित्रता" की कल्पना की विशेषता रही है—प्रादेशिक तथा आत्मगत "अपवित्रता" तथा "पवित्रता" की कल्पना। जिस प्रकार घर की "पवित्रता" होती थी उसी प्रकार का एक संस्कार सारे प्रदेश को 'पवित्र' बनाने वाला भी था। प्रादेशिक-पवित्रता का संस्कार सारी सीमा की प्रदक्षिणा करने और बलि देने से पूरा होता था। प्राचीन समय में शहर की दीवारों के चारों ओर एक इसी प्रकार की प्रदक्षिणा होती थी। ऐतिहासिक युग में नगर के विशेष पवित्रीकरण का

आयोजन किसी भी महान् विपत्ति के बाद किया जाता था, जैसे द्वितीय प्यूनिक युद्ध से हुये महान् विनाश के बाद। इन सारे प्रायश्चित्तों का मुख्य उद्देश्य देवताओं की अनुकूलता प्राप्त कर लेना मात्र था। किसी भी उपनिवेश के आरम्भ के समय शुद्धि-संस्कार होता था। सीमाओं और बाजारों की "रक्षा" भी अपने मूल रूप में उनका 'पवित्रीकरण" ही रहा होगा। अभी पिछले समय तक पादरियों का एक वर्ग-विशेष प्राचीन रोम की सीमाओं—पेलेरिनेट की बस्ती—की प्रदक्षिणा करता था। उससे पहिले वहाँ आरम्भिक-नगर की प्राचीनतम सीमाओं की वार्षिक प्रदक्षिणा होती थी। इसमें अरवल नामक पादरी नेतृत्व करते थे। यह प्रदक्षिणा 'अम्बरवलिया' कहलाती थी और यह निश्चयात्मक रूप से (देवताओं को) संतुष्ट करने के लिये ही की जाती थी। जब रोमराज्य की सीमा में वृद्धि हुई तो ऐसा नहीं लगता कि उसी अनुपात में "पवित्रीकरण" के संस्कार में भी वृद्धि की गई हो। ये प्रदक्षिणायें अन्यत्र भी थीं, इटली के बाहर और भीतर तथा यूनान में। मन्त्रोंवाली प्रार्थनाओं के विशुद्ध उच्चारण में कुछ जादू का सा प्रभाव रहा प्रतीत होता है। इनके उच्चारण में यदि कोई अशुद्धि रह गई तो उसका प्रायश्चित्त करना होता था; जैसे प्राचीन रोम की न्याय-पद्धति में यदि धातु-रूप के उच्चारण में कोई अशुद्धि रह जाती तो वादी अपना आरोप अथवा मुकद्दमा ही हार जाता।

अनोखे प्राचीन रीति-रिवाजों के कुछ दूसरे रूप भी (देवताओं को) प्रसन्न करने की कल्पना के ही साथ आबद्ध थे। साली नामक प्राचीन पादरी विशेष-विशेष अवसरों पर नगर के भिन्न २ स्थानों की परिक्रमा करते थे। वे अपने हथियारों तथा बाजे-गाजे को भी "पवित्र" करते थे जिससे आरम्भिक-लोगों की इस कल्पना का समर्थन होता है कि सेना के शस्त्रों के सफल प्रयोग के लिये उनका पवित्र होना आवश्यक है। सरकारी गणना जिसका अवसान "पवित्रीकरण" के साथ होता था, वह भी वास्तव में एक सैनिक प्रक्रिया ही थी, क्योंकि यह उस केन्द्रीय-समिति से सम्बन्धित थी जो सामान्य-वस्त्रधारी सेना ही है। यह सैनिक-पवित्रीकरण सेना में कभी

कभी व्याप्त हो जाने वाले मिथ्या भय को दूर करने के लिये उसी समय होता था जब सेना युद्ध-क्षेत्र में पहुँचती थी। अन्य अवसरों पर यह केवल रोगादि से बचाव के लिये होता था। नौ-सेनाओं का भी पवित्रीकरण होता था।

सभी आरम्भिक लोगों की तरह हिब्रू भी "अपवित्रता" की कल्पना को मानते थे। उनकी "अपवित्रता" की कल्पना की विशेषता उनका यह विश्वास था कि गन्दे पशुओं के अस्थि-पंजर के स्पर्श से पैदा होती है, अथवा उनका मृत-मांस खाने से, अथवा रेंगने वाले पशुओं के स्पर्श से, अथवा सदैव गंदे रहने वाले पशुओं के स्पर्श से, जैसे "वे सब पशु जिनके खुर चिरे हैं, जो एक साथ जुड़े नहीं हैं, न जुगाली करते हैं....जो भी अपने पंजों के बल पर चलते हैं, जो चारों टांगों पर चलने वाले सभी प्रकार के पशुओं में हैं।" किसी गन्दे आदमी से स्पर्श होना भी हिब्रू लोगों के लिये "अपवित्रता" थी। हिब्रू लोगों की "अपवित्रता" की दो और विशेषतायें भी कही जा सकती हैं। वे मानते थे कि मूर्ति-पूजा भी अपवित्रता का कारण होसकती है, और लोगों की लैङ्गिक अशुद्धता से प्रदेश का प्रदेश "अपवित्र" हो जाता है।

इस विस्तृत ब्योरे के बाद हम सार रूप में यह कह सकते हैं कि आरम्भिक-समाज अथवा प्राचीन-समाज के लोगों में कोई ऐसे नहीं हुए जो "अपवित्रता" की कल्पना को न मानते रहे हों।

दो

हिन्दुओं में अछूतपन

जहाँ तक "अपवित्रता" की बात है, हिन्दुओं में और आरम्भिक अथवा प्राचीन समाज के लोगों में कोई भेद नहीं। हिन्दुओं को "अपवित्रता" की कल्पना मान्य थी, यह मनुस्मृति से सुस्पष्ट है। मनु ने शारीरिक "अपवित्रता" और मानसिक "अपवित्रता"—दोनों को स्वीकार किया है।

मनु ने जन्म, मृत्यु तथा मासिक-धर्म को "अपवित्रता" का जनक स्वीकार किया है। 'मृत्यु' से उत्पन्न होने वाली "अपवित्रता" की मार बहुत दूर तक थी। यह रक्त-सम्बन्ध का अनुसरण करती थी। 'मृत्यु' से मृत-व्यक्ति के परिवार के सभी लोग—जिन्हें सपिण्डक तथा समानोदक कहते थे—"अपवित्र" होते थे। इसमें न केवल मातृ-पक्ष के सम्बन्धी सम्मिलित थे जैसे नाना आदि, किन्तु दूर दूर के सम्बन्धी भी शामिल थे। यह असम्बन्धियों तक को स्पर्श करती थी, जैसे—(१) आचार्य, (२) आचार्य-पुत्र (३) आचार्य-भार्या (४) शिष्य, (५) सहपाठी, (६) श्रोत्रिय, (७) राजा, (८) मित्र, (९) परिवार के लोग, (१०) मृत-देह को ले जाने वाले, तथा (११) मृत-देह को स्पर्श करने वाले।

जो कोई भी "अपवित्रता" की मार में आता था वह उससे बच नहीं सकता था। केवल कुछ ही लोग इसके अपवाद थे। निम्नलिखित श्लोकों में मनु ने इन अपवादों का नाम लिया है और ऐसा करने का कारण भी बताया है—

"राजा "अपवित्रता" से मुक्त रहते हैं और वे जो किसी व्रत के पालन में लगे हों अथवा कोई यज्ञ कर रहे हों, क्योंकि राजा तो इन्द्र के आसन पर बैठा है और अंतिम दोनों ब्राह्मण के समान सदैव पवित्र हैं ॥ ५-९३ ॥*

*न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ५-९३ ॥

"विशाल सिंहासन पर बैठे हुए नरेश के लिये तुरन्त "पवित्रता" की व्यवस्था है; और उसका कारण यह है कि वह अपनी प्रजा की रक्षा के लिए सिंहासनासीन है ॥ ५—९४ ॥

"जो किसी युद्ध या संग्राम में काम आये हैं, अथवा बिजली के गिरने या राजा द्वारा मारे गये हैं, अथवा गौ या ब्राह्मण की रक्षा में मरे हैं उनके सम्बन्धियों और उन पर भी यह नियम लागू होता है जिन्हें "अपवित्रता" के बावजूद राजा "पवित्र" देखना चाहता है ॥ ५—९५ ॥

"राजा संसार के आठ संरक्षक देवताओं का अवतार है—चन्द्र अग्नि, सूर्य्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण तथा यम ॥ ५—९६ ॥

"क्योंकि राजा संसार के उन संरक्षक देवताओं से ओत-प्रोत है, इस लिये उस पर किसी प्रकार की "अपवित्रता" लागू नहीं होती, क्योंकि संसार के ये स्वामी ही "पवित्रता" तथा "अपवित्रता" के कारण होते हैं ॥ ५—९७ ॥"

इससे यह स्पष्ट है कि राजा और 'धर्म-युद्ध' में हत हुए लोगों के सम्बन्धी तथा वे जिन्हें राजा "अपवित्रता" का अपवाद बनाये रखना चाहता था, "अपवित्रता" के सामान्य नियमों के अधीन नहीं थे। मनु का यह कथन कि 'ब्राह्मण सदैव पवित्र होता है' उसके सामान्य अर्थों में ही ग्रहण किया जाना चाहिये अर्थात् ब्राह्मण को सर्वोपरि बना कर रखना। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि ब्राह्मण "अपवित्रता" से मुक्त था। क्योंकि वह ऐसा

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ५-९४ ॥
डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ५-९५ ॥
सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ५-९६ ॥
लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेभ्यः प्रभवाप्ययम् ॥ ५-९७ ॥

नहीं था। 'जन्म' और 'मृत्यु' के अतिरिक्त ब्राह्मण पर तो "अपवित्रता" के और भी अनेक कारण लागू थे जो अब्राह्मणों पर लागू नहीं थे। मनुस्मृति ऐसे निषेधों से भरी पड़ी है जो केवल ब्राह्मणों पर ही लागू होते हैं और जिनका उसे पालन करना ही चाहिये। यदि वह उनका पालन न करे तो वह "अपवित्र" होता ही है।

मनु की यह जो "अपवित्रता" की कल्पना है, वह वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। क्योंकि वह "अपवित्र" आदमी द्वारा दिये गये भोजन को अग्राह्य ठहराता है।

मनु ने "अपवित्रता" का समय भी बांधा है। यह भिन्न-भिन्न है। यदि "सपिण्ड" हो तो दस दिन। बच्चों के लिये तीन दिन। सहपाठियों के लिये एक दिन। निश्चित दिन व्यतीत हो जाने मात्र से "अपवित्रता" जाती नहीं रहती। निश्चित अवधि पूरी हो जाने पर उस अवसर के योग्य "प्रायश्चित्त" करना पड़ता है।

"पवित्रता" के उद्देश्य से मनु ने इस विषय को तीन तरह से लिया है—(१) शारीरिक अपवित्रता, (२) मानसिक अपवित्रता, (३) नैतिक अपवित्रता। नैतिक "अपवित्रता" मन में बुरे संकल्पों को स्थान देने से पैदा होती है। उसकी शुद्धि के नियम तो केवल उपदेश या आदेश ही हैं। किंतु मानसिक तथा शारीरिक "अपवित्रता" दूर करने के जो 'संस्कार' हैं, वे पृथक् ही हैं। उनमें पानी, मिट्टी, गो-मूत्र, कुशा और भस्म का उपयोग होता है। मिट्टी, गो-मूत्र, कुशा और भस्म का उपयोग निर्जीव वस्तुओं के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होने वाली शारीरिक "अपवित्रता" को दूर करने में होता है। मानसिक "अपवित्रता" को दूर करने में पानी सब से अधिक उपयोगी है। उसका उपयोग तीन तरह से होता है—आचमन, स्नान तथा सिंचन। आगे चलकर मानसिक "अपवित्रता" दूर करने में 'पञ्चगव्य' का सबसे महत्वपूर्ण स्थान हो गया। गौ से प्राप्त पाँच चीजों से इसका निर्माण होता, दूध, गोमूत्र, गोबर, दही और घी।

मनु ने यह "व्यवस्था" भी की है कि अपनी "अपवित्रता" किसी दूसरे

पर लादकर उससे छुट्टी मिल जाय, जैसे किसी गौ के स्पर्श द्वारा अथवा आचमन करके सूर्य की ओर देख लेने से।

व्यक्तिगत "अपवित्रता" के साथ साथ हिन्दुओं का प्रदेशगत और जातिगत "अपवित्रता" में भी विश्वास रहा है, ठीक वैसा ही जैसा प्राचीन रोम-निवासियों का। हर गाँव की एक वार्षिक-यात्रा होती है। गाँव की ओर से एक पशु, बहुधा एक भैंसा खरीदा जाता है। गाँव की परिक्रमा के बाद पशु की बलि चढ़ा दी जाती है। गाँव के चारों ओर उसका रक्त छिड़क दिया जाता है और अन्त में ग्राम-वासियों में पशु का मांस भी बाँट दिया जाता है। प्रत्येक हिन्दू, प्रत्येक ब्राह्मण, चाहे वह गोमांस-भक्षी न हो अपने हिस्से का मांस अवश्य लेता है। यह किसी स्मृति में नहीं लिखा है, लेकिन इसे रिवाज की अनुमति प्राप्त है। हिंदुओं में रिवाज कानून को भी दबा देता है।

(२)

यदि यहीं तक बस होता, तो यह आसानी से कहा जा सकता था कि हिंदुओं में जो "अपवित्रता" की कल्पना है वह आरम्भिक तथा प्राचीन समाज में विद्यमान "अपवित्रता" की कल्पना से किसी तरह भिन्न नहीं है, लेकिन यहाँ रुका नहीं जा सकता क्योंकि हिंदू एक और तरह के ऐसे "अछूतपन" को मानते हैं जिसका अभी तक जिक्र नहीं किया गया है। यह कुछ जातियों का वंशानुगत अछूतपन है। इन जातियों की संख्या इतनी अधिक है कि बिना किसी विशेष सहायता के एक सामान्य व्यक्ति के लिये उनकी एक पूरी सूची बना लेना आसान नहीं। सौभाग्य से १९३५ में भारतीय सरकार ने इस प्रकार की एक सूची तैयार की थी। वह १९३५ के ही "गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट" के आधीन निकाले गये 'आर्डर इन कौंसिल' (आज्ञा-पत्र) के साथ ही है। यह लम्बी सूची ९ भागों में विभक्त है। एक भाग का संबन्ध एक प्रांत से है, उसमें उस प्रांत की जातों, नस्लों, जातियों अथवा समूहों की—जो सारे प्रांत अथवा उसके एक हिस्से में अछूत माने जाते हैं—गिनती की गई है। यह सूची विस्तृत और प्रामाणिक कही जा

सकती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि हिन्दू लोग जातियों की एक कितनी बड़ी संख्या को वंशानुगत 'अछूत' मानते हैं, मैं 'आर्डर इन कौंसिल' की वह सूची यहाँ दे रहा हूँ :—

सूची

१ भाग—मद्रास

(१) सारे प्रांत में विद्यमान परिगणित जातियों की सूची :—

आदि आन्ध्र
आदि द्रविड़
आदि कर्णाटक
अजिल
अरुन्धतीय
बैरा
बकुड़
बंडी
बरिकि
बत्तड़
बौरि
बेल्लार
ब्यागरि
मादिग
मइला
माला
मालादासु
मातङ्गी
मोगर
मुची
मण्डल
नलकेयव
नयाड़ि
पगदाई
पैड़ि

चचटि
चक्किलियन
चलवाडि
चमार
चण्डाल
चेरुमन
डण्डासि
देवेन्द्र कुलत्तन
घासी
गोडगलि
गोडारि
गोडा
गोसंगी
पैण्डा
पाकि
पल्लन्
पम्बड़
पमिड़ि
पञ्चम
पनियन
पनियान्नडि
परयन्
परवन्
पुलयन्
पुतिरयवन्नन्

हड्डी
हसल
होलेया
जग्गलि
जाम्बुवुलु
कल्लडि
कन्नक्कन
कोडालो
कूस
कोडग
कुडुम्बन्
कुरवन्
मदारि
रनेयर
रेल्लि
समगर
संबन्
सपरि
सेम्मन
तोटि
तिरुवल्लुवर
वल्लुवन्
वाल्मीकि
वेत्तुवन्

(२) प्रांत की धारा सभा में पिछड़े हुए क्षेत्रों तथा पिछड़ी हुई जातियों के एक प्रतिनिधि के चुनाव के लिये सभी प्रांतों में परिगणित जातियों की सूची। १९३५ के गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट के अनुसार यदि कोई विशेष चुनाव क्षेत्र हो तो वह इस नियम का अपवाद होगा :—

अरनादन्	कट्टुनायकन्	कुरुमन्
डोम्बो	कुडिया	मालासर
कदन	कुडुबि	मविलन्
करिम्पालन्	कुरिच्छन्	पानो

२ भाग—बम्बई

(१) सारे प्रांत में परिगणित जातियाँ :—

आसोदि	ढोर	माङ्ग गारुड़ि
बकड़	गरोड़	मावचाल-मेघवार
भाम्बि	हल्लीर	मिनि-मादिग
भंगी	हलसर या हसलर	मुकरि
चक्रवड़ या दासर	हुलसवर	नदिया
चलवाड़ि	होलाया	शेनवा या शिन्धवा
चाम्भार या मोची	खलपा	शिघदाव या शिगादया
समगार	कोलचा या कोलघा	सोची
चेन दासारू	कोली—ढोर	तिमाली
चूहड़ या चूहड़ा	लिंगाडेर	तूरि
दकलेरु	मादिक या मांग	वणकर
ढेड़	महार	विटोलिया
घेनु-मेगु		

(२) गोन्धी—अहमदाबाद, खेड़ा, भडोंच, पंचमहाल और सूरत के जिलों को छोड़कर शेष सारे प्रांत में।

(३) कोलगार—कनाड़ा जिले में।

३ भाग—बंगाल

प्रांत भर में परिगणित जातियाँ :—

अगरिया	बहेलिया	बाउरी
बागड़ि	बैती	बाड़िया
बेलदार	कादर	मल्लाह
बरुवा	काल पहाड़िया	माछ
भाटिया	कान	मेहतर
भूइँ मालि	कान्ध	मुआहि
भूइँया	कन्दरा	मिण्डा
भूमिज	कावरा	मुसाबर
बिन्द	कपूरिया	नागासय।
बिझिया	करेंगा	नामशूद्र
चमार	कासथा	नट
धेनुवार	काउर	नूनिया
धोबा	खैरा	ओराओं
दोआइ	खटीक	पालिया
डोम	कोरा	पान
दुसाध	कोनाइ	पासी
गारो	कोनावार	पटनी
घासी	कोर	पोद
गोछरी	कोतल	राभा
हाडी	लालबेगी	राजबंशी
हजंग	लोधा	रजवार
हलालखोर	लहोर	सन्ताल
हाड़ी	माहलि	सुनरी
हो	माल	तियार
जालिया कैवर्त	महर	तूरि
झालो मालो या मालो		

४ भाग—संयुक्त प्रान्त

प्रांत भर में परिगणित जातियाँ :—

अगरिया	बलहार	बेलदार
अहेरिया	बाल्मीकि	बंगाली

बड़ी	बनमानुस	बोड़िया
बधिक	बंसफोड़	भन्तु
बहेलिया	बरवार	भुइया
बजनिया	बसोर	भुइंयार
बाजगी	बावरिया	बोरिया
चमार	कापड़िया	तुरैहया
चेरो	करवाल	हाड़ी
दबगर	खारोट	हेला
धाँगड़	खारवार	खैरहा
धानुक	खटीक	कलाबाज
धरकार	कोल	कंजर
धोबी	कोरवा	शिल्पकार
डोम	लालबेगी	पटारि
डोमार	मझवार	राउत
घरामी	नट	सहरिया
घासिया	पंखा	सन्हौड़िया
उबाल	पराहिया	सांसिया
हाबुड़ा	पासी	थारू

आगरा, मेरठ और रोहेलखंड कमिशनरियों को छोड़कर शेष सारे प्रान्त में—कोरी।

५ भाग—पंजाब

प्रांत भर में परिगणित जातियाँ :—

आदि धर्मी	सरेरा	खटीक
बावरिया	बंगाली	कोरी
चमार	बरर	नट
चूहड़ा या बाल्मीकि	बाजीगर	पासी

बागी और कोलि	भांजरा	पेरला
डमना	चनल	सँपेला
ओड	धानक	सिरकीबंद
सांसी	गगड़	मेघ
सराढे	गंधील	रामदासी

६ भाग—बिहार

(१) प्रान्त भर में परिगणित जातियाँ :—

चमार	धोबी	डोम
चौपाल	दुसाध	हलालखोर
हाड़ी	लालबेगी	नट
कंजर	मोची	पासी
कुरारियर	मुसहर	

(२) पटना तथा तिरहुत कमिशनरी में और भागलपुर, मुंगेर, पालामऊ तथा पूर्णिया ज़िले में :—

बाउरी	भूमिज	रजवार
भोगता	घासी	तुरि
भुइँया	पान	

(३) मानभूमि ज़िले की धनबाद तहसील में, मध्य मानभूम के सामान्य ग्रामीण चुनाव-क्षेत्र में तथा पुरुलिया और रघुनाथपुर म्यूनिसिपलिटी में :—

बाउरि	घासी	रजवार
भोगता	पान	तुरि
भुइँया		

७ भाग—मध्यप्रान्त और बरार

(१) प्रान्त भर में परिगणित जातियाँ :—

बसोर या बुरुड़	डोम	मेहतर या भंगी
चमार	गाएडा	मोची
मांग	सतनामी	

(२) स्थान-विशेष पर परिगणित जातियाँ :—

औधेलिया	बिलासपुर जिले में।
बहना	अमरावती जिले में।
बलाही या बलाइ	बरार कमिशनरी में, और बालघाट, भण्डारा बेतूल, चान्दा, छिन्दवारा, होशंगाबाद, जबलपुर, माण्डला, नागपुर, निमार, सागौर तथा वर्धा जिलों में।
बेडार	अकोला, अमरावती और बुलडाना जिले में।
चदर	भण्डारा और सागौर जिले में।
चौहान	द्रुग जिले में।
देहयाव	सागौर जिले की दमोह-तहसील में।
देवाड़	बिलासपुर, द्रुग और रायपुर जिले में।
धानुक	दमोह तहसील को छोड़कर शेष सागौर जिले में।
ढीमर	भण्डारा जिले में।
धोबी	भण्डारा, बिलासपुर, रायपुर और सागौर जिले में तथा होशंगाबाद जिले की स्यूनी-मालवा तहसीलों में।
दोहर	बरार कमिशनरी और बालघाट, भण्डारा, चान्दा, नागपुर तथा वर्धा जिलों में।
घासिया	बरार कमिशनरी और बालघाट, भण्डारा, बिलासपुर, चान्दा, द्रुग, नागपुर, रायपुर तथा वर्धा जिलों में।
होलिया	बालघाट और भण्डारा जिलों में।
जंगम	भण्डारा जिले में।
कैकारि	बरार कमिशनरी में और भण्डारा, चान्दा, बरार तथा वर्धा जिलों में।

कटिया	बरार कमिशनरी में, बालघाट, बेतूल, भण्डारा, बिलासपुर, चान्दा, द्रुग, नागपुर, निमार, रायपुर और वर्धा जिलों में। होशंगाबाद जिले की होशंगाबाद और स्यूनी-मालवा तहसीलों में, स्यूनी तहसील को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा जिले में, दमोह तहसील को छोड़कर शेष सागौर जिले में।
खंगार	भण्डारा, बुलडाना, सागौर जिलों में और होशंगाबाद जिले की होशंगाबाद तथा स्यूनी-मालवा तहसील में।
खटीक	बरार कमिशनरी में, बालघाट, भण्डारा, चान्दा, नागपुर और वर्धा जिलों में। होशंगाबाद जिलों की होशंगाबाद तहसील में, स्यूनी तहसील को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा जिले में तथा दमोह तहसील छोड़कर शेष सागौर जिले में।
कोली	भण्डारा और चान्दा जिले में।
कोरी	अमरावती, बालघाट, बेतूल, भण्डारा, बुलडाना, छिन्दवाड़ा, जबलपुर, भाण्डला, निमार, रायपुर और सागौर जिलों में तथा हरदा और सोहागपुर तहसील छोड़कर शेष होशंगाबाद जिले में।
कुलहार	भण्डारा और सागौर जिले में, तथा होशंगाबाद जिले की स्यूनी-मालवा तहसीलों में।
मदुगी	बरार कमिशनरी में, बालघाट, भण्डारा, चान्दा, नागपुर और वर्धा जिलों में।
माला	बालघाट, बेतूल, छिन्दवाड़ा, होशंगाबाद,

	जबलपुर, माण्डला, निमार और सागौर ज़िलों में।
मेहरा और महार	होशंगाबाद ज़िले की हरदा और सोहागपुर तहसीलों को छोड़कर शेष सारे प्रान्त में।
नगाड़ची	बालघाट, भण्डारा, छिन्दवाड़ा, माण्डला, नागपुर और रायपुर ज़िलों में।
ओझा	बालघाट, भण्डारा, माण्डला ज़िलों में, तथा होशंगाबाद ज़िले की होशंगाबाद तहसील में।
पनका	बरार कमिशनरी में, बालघाट, भण्डारा, बिलासपुर, चान्दा, द्रुग, नागपुर, रायपुर, सागौर और वर्धा ज़िलों में तथा स्यूनी तहसील को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा ज़िले में।
पारधी	होशंगाबाद ज़िले की नरसिंहपुर तहसील में।
प्रधान	बरार कमिश्नरी में, भण्डारा, चान्दा, नागपुर, निमार, रायपुर और वर्धा ज़िलों में तथा स्यूनी तहसील को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा ज़िले में।
रुज्झार	होशंगाबाद ज़िले की सोहागपुर तहसील में।

८ भाग—आसाम

(१) आसाम उपत्यका में :—

नमःशूद्र	बनिया या बृत्तियल बनिया	मेहतर भंगी
कैवर्त	हीरा	बांसफोड़

(२) सुरमा उपत्यका में :—

माली या भुइ-माली	सूत्रधार	कैवर्त या जालिया
धुबी या धोबी	मूची	लालबेगी
डगला या धोली	पटनी	मेहतर या भंगी
झालो और मालो	नामशूद्र	बंसफोड़
महरा		

६ भाग—उड़ीसा

(१) प्रांत भर में परिगणित जातियाँ :—

आदि आन्ध्र	देवर	इरिका
औधेलिया	धोवा या धोबी	जग्गलि
बारिकि	गाण्डा	काण्डरा
बसोर बुरुड़	घुसुरिया	कटिया
बाउरी	गोडगलि	केला
चचटी	गोडरि	कोडालो
चमार	गोडरा	मदारि
चण्डाल	गोखा	मादिग
डण्डासी	हड्डी या हाड़ी	महुरिया
माला	पंचम	पाइड़ी
मांग	पनका	पैण्डा
मंगन	रेल्ली	पामिड़ी
मेहरा, महार	सुपरि	वाल्मीकि
मेहतर, भङ्गी,	सतनामी	सियार
मोची, मुची		

(२) पान या पानो

[खोंदमल जिले को छोड़ शेष सारे प्रांत में, सम्बलपुर जिले में, मद्रास प्रेसिडैंसी की विजगापटम और गंजाम एजेंसियों से १९३६ में उड़ीसा को दे दिये गये भूमि-भाग में।]

(३) डोम या डम्बो

[खोंदमल जिले और इस प्रकार उड़ीसा को दे दिये गये भूमि-भाग के अतिरिक्त शेष सारे प्रांत में]

(४) बावरी ... सम्बलपुर जिला छोड़कर शेष सारे प्रांत में ।

मुइयाँ

भूमिज

घासी, घसिया

तूरी

(५) कोरी सम्बलपुर जिले की नवपारा तहसील में ।

नगाड़ची

प्रधान

यह एक भयानक सूची है। इनमें ४२९ (चार सौ उन्तीस) जातियाँ सम्मिलित हैं। यदि इनकी संख्या जोड़ी जाय तो इसका मतलब यह होता है कि देश में आज ५-६ करोड़ आदमी ऐसे हैं जिनके स्पर्श मात्र से हिन्दू "अपवित्र" हो जाते हैं। निश्चय से आरम्भिक तथा प्राचीन समाज में जो "अछूत-पन" विद्यमान था; वह इस भारत-व्यापी करोड़ों लोगों के वंशानुगत "अछूतपन" के मुकाबले में नगण्य ठहरता है। हिन्दुओं का यह "अछूतपन" अद्वितीय है। संसार के इतिहास में इसका मुकाबला नहीं। एशिया और यूरोप की बहुत सी जातियों की जन-संख्या से भी बड़ी जन-संख्या का "अछूत-पन" अपनी जन-संख्या की अधिकता के ही कारण अद्वितीय नहीं है; किन्तु और दूसरे कारणों से भी अद्वितीय है।

इन ४२९ जातियों को "अछूत" बना देने वाली हिन्दुओं की "अछूत-पन" की पद्धति में अनेक ऐसी विशेषताएं हैं जो अहिन्दू जातियों के "अछूत-पन" में चाहे वे आरम्भिक हों अथवा प्राचीन—नहीं ही पाई जातीं।

अहिन्दू समाज ने "अपवित्रता" से बचे रहने के लिये पृथक्करण के जो नियम बना रखे हैं; वे यदि तर्क-संगत न भी माने जायें तो भी समझ में आते हैं। यह पृथक्करण जन्म, विवाह, मृत्यु आदि विशेष अवसरों पर

होता है। किन्तु हिन्दू समाज का यह पृथक्-करण; यह "अछूत-पन" स्पष्टतया निराधार ही है।

आरम्भिक समाज जिस "अपवित्रता" को मानता था वह थोड़े समय रहती थी और खाने-पीने आदि प्राकृतिक कृत्यों के अथवा जीवन में जन्म, मृत्यु, मासिक-धर्म आदि जो असाधारण अवसर होते हैं उन्हीं पर पैदा होती थी। "अपवित्रता" का समय बीत जाने पर और "पवित्र" बना देने वाला संस्कार हो चुकने पर आदमी की "अपवित्रता" नष्ट हो जाती थी और वह फिर "पवित्र" तथा समाज में मिलने-जुलने योग्य हो जाता था। किन्तु यह पाँच-छः करोड़ आदमियों का "अछूत-पन" जन्म, मृत्यु आदि के "अछूत-पन" से सर्वथा भिन्न है। यह स्थायी है। जो हिन्दू उनका स्पर्श करते हैं वे स्नानादि के द्वारा "पवित्र" हो जा सकते हैं, किन्तु ऐसी कोई चीज नहीं जो "अछूत" को "पवित्र" बना सके। वे "अपवित्र" ही पैदा होते हैं; वे जन्म भर "अपवित्र" बने रहते हैं; वे "अपवित्र" ही बने रह कर मर भी जाते हैं; और वे जिन बच्चों को जन्म देते हैं वे बच्चे भी "अपवित्रता" का टीका माथे पर लगाये ही जन्म ग्रहण करते हैं। यह एक स्थायी वंशानुगत कलंक है जो किसी तरह धुल नहीं सकता।

और तीसरी बात यह है कि अहिन्दू जो "अपवित्रता" से पैदा होने वाले पृथक्-करण को मानते थे, वे उन व्यक्तियों को अथवा उनसे निकट सम्पर्क रखने वालों को ही पृथक् करते थे। लेकिन हिन्दुओं के इस "अछूत-पन" ने एक वर्ग के वर्ग को अस्पृश्य बना रखा है—एक वर्ग जिसकी जन-संख्या पाँच-छः करोड़ है।

चौथी बात यह है कि अहिन्दू उन व्यक्तियों को जो "अपवित्रता" से प्रभावित हो गये हों कुछ समय के लिये पृथक् भर कर देते थे। वे उन्हें एक-दम पृथक् बसा नहीं देते थे। हिन्दू समाज का आग्रह है कि सब "अछूत" पृथक् बसें। हिन्दू अछूतों के मुहल्लों में नहीं रहेंगे और अछूतों को अपने मुहल्लों में नहीं रहने देंगे। हिन्दू जिस "अछूतपन" को मानते हैं उसका यह महत्वपूर्ण अङ्ग है। यह सामाजिक बहिष्कारमात्र नहीं है, थोड़े समय के लिये सामाजिक व्यवहार का बन्द कर देना। यह तो प्रदेश-पृथक्करण का

उदाहरण है, अछूतों को एक काँटे-दार तार के घेरे में एक पिंजरे में बन्द कर देना। हर हिन्दू गाँव में, यहूदी लोगों को पृथक् रखने की जगह की तरह की एक जगह बनी है। हिन्दू गाँव में रहते हैं, अछूत गाँव से बाहर उसी जगह पर।

ऐसी है यह हिन्दू "अछूतपन" की पद्धति! इससे कौन इनकार कर सकता है कि जो चीज अहिन्दुओं में देखी जाती है यह उससे सर्वथा भिन्न है? यह निर्विवाद है कि हिन्दुओं का "अछूतपन" एक अनोखी ही वस्तु है। अहिन्दू समाज में लोगों को "अपवित्र" माना गया, किन्तु केवल व्यक्तियों को। सारी की सारी जाति को कभी कहीं "अपवित्र" नहीं माना गया। और उनकी "अपवित्रता" अल्पकालीन होती थी; और किसी न किसी 'क्रिया' द्वारा नष्ट हो सकने वाली। 'एक बार अपवित्र, सदा के लिये अपवित्र' के सिद्धान्त पर आश्रित इस प्रकार की स्थायी "अपवित्रता" कहीं देखने में नहीं आई। अहिन्दू समाज में लोगों को "अपवित्र" माना गया और उनका सामाजिक-व्यवहार भी बन्द हुआ है। लेकिन, ऐसा कहीं न हुआ कि आदमियों को सदा के लिये पृथक् बसा दिया जाय। अहिन्दुओं ने एक जमात की जमात को "अपवित्र" मान कर उनके साथ वैसा बर्ताव किया है, लेकिन वे "बाहर" के रहे हैं, रक्त-सीमा के सम्बन्धों के घेरे से बाहर। ऐसा कभी हुआ ही नहीं है कि किसी ने अपने ही आदमियों को पीढ़ी दर पीढ़ी और स्थायी रूप से "अपवित्र" बना कर रखा हो।

इस प्रकार हिन्दुओं का "अछूतपन" एक अनहोनी घटना है, संसार के किसी दूसरे हिस्से में मानवता ने आज तक कभी इसका अनुभव नहीं किया, किसी दूसरे समाज में इस जैसी कोई चीज है ही नहीं, आरम्भिक-समाज में प्राचीन-समाज में अथवा वर्तमान-समाज में। "अछूतपन" के अध्ययन से जो अनेक समस्यायें पैदा होती हैं और जिनके हल करने की आवश्यकता है, उनका समावेश इन दो बातों में हो जाता है—

[१] अछूत गाँव से बाहर क्यों रहते हैं?

[२] उनकी "अपवित्रता" स्थायी और अमिट कैसे बन गई।

अगले पृष्ठों में इन्हीं दो प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है।

दूसरा खण्ड

तीन

अछूत गाँव से बाहर क्यों रहते हैं ?

अछूत गाँव से बाहर क्यों रहते हैं—यह बात इतनी अधिक बदनाम है कि जो लोग उनके बारे में अधिक कुछ नहीं जानते वे भी इतनी बात तो जानते ही हैं। इतना होने पर भी कभी किसी ने नहीं सोचा कि यह गम्भीर प्रश्न है, जिसका संतोष-जनक उत्तर मिलना ही चाहिये। यह कैसे हुआ कि अछूत गाँव से बाहर रहने लग गये? क्या वे पहले 'अछूत' घोषित कर दिये गये और तब उन्हें गाँव से बाहर निकाल कर गाँव के बाहर बसा दिया गया? अथवा वे पहले से ही गाँव के बाहर रहते थे, और उन्हें पीछे 'अछूत' घोषित किया गया? यदि हमारा यह उत्तर हो कि वह पहले से ही गाँव के बाहर रहते थे तो अगला प्रश्न यही पैदा होता है कि उसका कारण क्या था?

क्योंकि अछूतों के गाँव के बाहर रहने के प्रश्न पर पहले कभी किसी ने विचार ही नहीं किया, इसलिये स्वाभाविक तौर पर इस बारे में किसी का कुछ भी सिद्धान्त नहीं है।

हाँ, हिन्दूशास्त्रों की एक दृष्टि अवश्य है। यदि कोई उसे ही सिद्धान्त का दर्जा देना चाहे तो भले दे ले। शास्त्र कहते हैं कि 'अन्त्यजों' को गाँव के बाहर रहना चाहिये और उनकी बस्ती गाँव के बाहर होनी चाहिये। उदाहरण के लिये मनु का कथन है—

"किन्तु चाण्डालों और श्वपाकों का निवास गाँव के बाहर होगा। उन्हें अपपात्र बना देना होगा। उनकी सम्पत्ति कुत्ते और गधे होंगे ॥१०—५१॥*

* चाण्डालश्वपचानान्तु बहिर्ग्रामात प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ १०—५१

"उन्हें मुर्दों के उतार पहनने होंगे, उन्हें फूटे बर्तनों में भोजन करना होगा, उनके गहने काले लोहे के होंगे और उन्हें सदैव जगह जगह घूमते रहना होगा ॥ १०—५२ ॥

"कोई आदमी, जो किसी धार्मिक कृत्य में लगा हो, उनसे किसी प्रकार का सरोकार न रखेगा; वे आपस में ही अपना सब व्यवहार रखेंगे और अपने विवाह भी अपनी बराबरी वालों के साथ करेंगे ॥ १०—५३ ॥

"उनका भोजन उन्हें किसी नौकर आदि द्वारा टूटे हुए बर्तन में दिया जायगा; रात को वे गाँव या नगर में घूम न सकेंगे ॥ १०—५४ ॥

"दिन में वे अपने काम के लिये जा सकते हैं; किन्तु उन्हें राजाज्ञा से सचिन्ह होना चाहिये । हाँ, निश्चित यह नियम है कि उन्हें ऐसे व्यक्तियों की लाश ढोकर ले जानी होगी जिनका कोई सम्बन्धी न हो ॥ १०—५५ ॥

"राजाज्ञा से उन्हें ही दण्ड-नीति के अनुसार सदैव अपराधियों की हत्या करनी होगी और वे उन अपराधियों के वस्त्र, बिस्तरे और गहने ले सकेंगे ॥ १०—५६ ॥"*

लेकिन शास्त्रों के इन कथनों का क्या अर्थ समझा जाय ? उनके दो अर्थ हो सकते हैं । जब शास्त्र कहते हैं कि अछूतों को गाँव से बाहर रहना चाहिये, तो उनका इतना ही अर्थ भी हो सकता है कि अछूतों

* वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ १०—५२
न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन् ।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ १०—५३
अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने ।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ १०—५४
दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः ।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ १०—५५
वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ १०—५६

को गाँव से बाहर जहाँ वह ठहरते रहे हैं, वहीं रहना चाहिये। यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि जिन्हें "अछूत" घोषित कर दिया गया है उन्हें गाँव के अन्दर रहने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये, बल्कि उन्हें गाँव के बाहर जाकर गाँव के बाहर रहने के लिये ही मजबूर करना चाहिये। शास्त्रों की इन दोनों व्याख्याओं से दो सम्भावनायें उत्पन्न होती हैं। एक तो यह है कि अछूतों के गाँव से बाहर जाकर रहने का 'अछूतपन' से कोई सम्बन्ध नहीं। एकदम आरम्भ से ही वे गाँव के बाहर रहते आये हैं। उसके बाद जब उनके माथे पर "अछूतपन" का टीका लगा तो उनका गाँव में आना निषिद्ध हो गया। दूसरी सम्भावना यह है कि "अछूतपन" का "अछूतों" के गाँव से जाकर रहने से पूरा-पूरा सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में अछूत पहले गाँव के अन्दर रहते रहे हैं। बाद में जब उनके माथे पर "अछूतपन" का टीका लगा तो वे गाँव को खाली करके गाँव से बाहर जाकर रहने पर मजबूर हुए।

इन दोनों बातों में से कौन-सी बात अधिक मान्य है ?

✓ यह दूसरी सम्भावना तो स्पष्ट तौर पर ही एक निरर्थक और बे-सिर पैर की कल्पना है। इसके खोखलेपन को दिखाने के लिये एक ही तर्क पर्याप्त है। हम जिस बात पर विचार कर रहे हैं वह किसी गाँव अथवा किसी एक क्षेत्र की बात नहीं है। यह समस्त भारतवर्ष में व्याप्त है। अछूतों को गाँव में से निकाल कर बाहर बसाना बहुत बड़ी बात है। किसने और कैसे यह इतनी बड़ी बात की होगी ? यह बिना किसी चक्रवर्ती राजा की आज्ञा के नहीं हो सकता था। उसके लिए भी इस प्रकार एक जगह से हटाकर दूसरी जगह बसाना असम्भव कार्य था। चाहे सम्भव हो चाहे असम्भव हो यह किसी चक्रवर्ती राजा का ही कार्य हो सकता है। वह कौन-सा चक्रवर्ती राजा है जिसे इस कार्य का श्रेय अथवा अश्रेय दिया जा सकता है ? स्पष्ट ही है कि भारत में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसने यह कार्य किया हो। यदि भारत में ऐसा कोई राजा नहीं हुआ तो यह दूसरी सम्भावना छोड़ देनी चाहिए।

अब जिस बात पर विचार किया जा सकता है वह यही है कि जो लोग अछूत कहलाते हैं वे "अछूत" कहलाना आरम्भ करने से भी पहिले, एकदम आरम्भ से ही गाँव के बाहर रहते थे और बाद में "अछूत" बना दिए जाने के कारण उन्होंने बाहर ही रहना जारी रक्खा। लेकिन इससे एक बहुत ही कठिन प्रश्न पैदा होता है—वे गाँव के बाहर क्यों रहते थे? उन्हें ऐसा करने के लिये किसने मजबूर किया? इसका उत्तर यही है कि समाज-शास्त्र के विद्यार्थी को संसार भर में आरंभिक समाज के वर्तमान रूप धारण कर लेने के सम्बन्ध में जिन बातों की जानकारी है उनका ख्याल करके यही मानना स्वाभाविक लगता है कि "अछूत" आरम्भ से ही गांव के बाहर रहते आये हैं।

शायद अनेक लोग जब तक उन्हें उन बातों की कुछ व्याख्या न कर दी जायगी जिनके कारण प्रारम्भिक समाज ने वर्तमान स्वरूप ग्रहण कर लिया है तब तक वे यह नहीं समझ सकेंगे कि उपरोक्त मत स्वाभाविक क्यों है? इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम इस बात को ध्यान में रखें कि वर्तमान समाज प्रारम्भिक समाज से दो बातों में भिन्न है। प्रारंभिक समाज घुमन्तू जातियों का बना था और वर्तमान समाज स्थिरतापूर्वक एक जगह बसी हुई जातियों का समूह है। दूसरे प्रारम्भिक समाज रक्तसम्बन्ध पर आश्रित परिवार-जातियों का एक समूह था। वर्तमान समाज क्षेत्रगत स्थानीय-जातियों का समूह है। दूसरे शब्दों में आरंभिक समाज ने वर्तमान स्वरूप तक पहुँचने के लिये दो ओर अपना विकास किया है। विकास की एक धारा ने प्रारंभिक समाज को (रक्त आश्रित) परिवार जाति की अवस्था से होकर क्षेत्रगत जाति की अवस्था को पहुँचा दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार के परिवर्तन के स्पष्ट चिह्न राजाओं की सरकारी उपाधियों में दिखाई देते हैं। अंग्रेजी राजाओं की उपाधियों को ही लीजिये। जॉन ही था वह पहिला बादशाह था जिसने अपने आपको इंग्लैंड का बादशाह कहा। उसके पूर्वज सामान्य तथा अपने आपको अंग्रेजों का राजा कहते आये थे। पहिला कथन एक क्षेत्रगत जाति का प्रतिनिधित्व करता है दूसरा एक परिवार-

जाति का। इंग्लैंड कभी एक देश था जहाँ अंग्रेज निवास करते थे। अब अंग्रेज वे लोग हैं जो इंग्लैंड में निवास करते हैं। इसी प्रकार का परिवर्तन फ्रांसीसी नरेशों की उपाधियों में भी दिखाई देता है। कभी वे फ्रांसीसी लोगों के राजा कहलाते थे किन्तु आगे चलकर फ्रांस के राजा कहलाने लगे। विकास की दूसरी धारा ने प्रारंभिक समाज को घुमन्तू-समाज न रहने देकर एक स्थिर-निवासप्राप्त समाज बनाया। यहाँ भी यह परिवर्तन इतना निश्चित और प्रभावोत्पादक है कि इसकी वास्तविकता का विश्वास कराने के लिये किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं।

इस समय हमें अपने मतलब के लिये इतना ही पर्य्याप्त है कि हम विकास की दूसरी धारा पर विचार करें। प्रारम्भिक समाज किस प्रकार घुमन्तू-समाज न रहकर स्थिर-बसा हुआ समाज बन गया ? प्रारम्भिक समाज के घुमन्तू-समाज न रहकर स्थिर-बसा हुआ समाज बनने की कथा इतनी अधिक लम्बी है कि वह एक परिच्छेद में आ ही नहीं सकती। केवल दो बातों की ओर ध्यान देना पर्य्याप्त होगा। पहली बात जो समझने की है वह यही है कि किस चीज ने प्रारंभिक-समाज से उसका घुमन्तू-जीवन छुड़ा दिया ? दूसरे घुमन्तू-जीवन से स्थिर-बसे हुए जीवन तक पहुँचने के बीच में उसे किस किस अवस्था में से गुज़रना पड़ा ?

निःसन्देह प्रारम्भिक-समाज घुमन्तू-समाज था। किन्तु वह घुमन्तू अपने किसी घुमक्कड़पन के स्वभाव-विशेष के कारण नहीं था। इसका कारण यही था कि प्रारंभिक-समाज का धन पशु थे। प्रारंभिक-समाज घुमन्तू केवल इसी लिये था, क्योंकि इसका धन अर्थात् पशु घुमन्तू थे। पशु नई चरागाहों की खोज में घूमते थे। प्रारंभिक-समाज अपने पशु-प्रेम के कारण जहाँ जहाँ वे पशु ले जाते वहाँ वहाँ पीछे पीछे जाता था। प्रारंभिक-समाज का निवास स्थिर हो गया अर्थात् वह एक जगह बस गया। किन्तु उसी समय उसे एक नये प्रकार के धन का पता लगा। यह नये प्रकार का धन भूमि थी। यह उस समय हुआ जब प्रारंभिक-समाज ने खेती करने और खेत जोतने की कला सीख ली। पशुओं से भूमि में परिवर्तित होने से धन एक

जगह स्थिर हो गया। इस परिवर्तन के साथ साथ प्रारंभिक-समाज भी स्थिर होकर एक जगह बस गया।

इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है कि प्रारंभिक समाज किसी समय घुमन्तू-समाज क्यों था और फिर उसने एक जगह स्थिर होकर रहना क्यों सीख लिया ?

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि जब प्रारंभिक-समाज घुमन्तू जीवन छोड़ने की ओर अग्रसर हो रहा था उस समय क्या घटनायें घटीं ? घुमन्तू जीवन को छोड़ स्थिरता का जीवन ग्रहण करने जाकर प्रारंभिक समाज के सामने मुख्य रूप से दो समस्यायें उपस्थित हुईं। एक तो वह थी जिसे एक जगह बस जाने वालों को सुलझाना था और दूसरी वह थी जिसे छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमियों को सुलझाना था। एक जगह बस जाने वाली जातियों के सामने समस्या थी कि वह दूसरी घुमन्तू जातियों से अपनी रक्षा कैसे करें ? और छिन्न-भिन्न हुई परास्त जातियों की समस्या थी कि उनको कहीं न कहीं शरण-स्थान मिले। इसको और स्पष्ट करके जानना आवश्यक हो सकता है कि ये समस्यायें क्यों और कैसे पैदा हुईं ?

एक जगह बस जाने वाली जातियों के सामने जो समस्या आई उसे समझने के लिये निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना होगा। सभी घुमन्तू दल अथवा जातियाँ एक ही समय स्थिर नहीं हो गई थीं। कुछ स्थिर हो गईं कुछ घुमन्तू बनी रहीं। दूसरी बात जो याद रखने की है वह यह है कि ये दल अथवा जातियाँ कभी भी आपस में शान्ति से नहीं रहती थीं। उनकी प्रायः आपस में लड़ाई ही होती रहती थी। जब सभी दल अथवा जातियाँ घुमन्तू अवस्था में थीं तो उनके आपसी युद्ध के प्रधान कारण थे—(१) पशुओं की चोरी, (२) स्त्रियों की चोरी, (३) दूसरे दलों अथवा जातियों की चरागाहों में पशुओं को जबर्दस्ती चरा लेना। जब कुछ दल अथवा जातियाँ स्थिर होकर बस गईं तो जो दल अथवा जातियाँ अभी भी घुमन्तू जीवन व्यतीत कर ही रही थीं उनके लिये एक जगह बसे हुए लोगों के साथ लड़ना-भिड़ना और भी आसान हो गया। दूसरे घुमन्तू-लोगों के साथ लड़ाई करते

की अपेक्षा इसमें अधिक लाभ था। घुमन्तू जातियों की समझ में यह बात आगई थी कि स्थिर होकर बस जाने वाली जातियों के पास दोहरा धन था। घुमन्तू-दलों की तरह ही इनके पास भी पशु थे और इसके अतिरिक्त उनके पास धान थे जिन्हें देखकर घुमन्तू लोगों की लार टपकती थी। घुमन्तू-दल स्थिर बसी हुई जातियों पर लगातार संगठित आक्रमण करते थे, जिसमें वे उनका धन चुरा कर ले जा सकें। तीसरी बात यह कि एक जगह बसी हुई जातियाँ इन घुमन्तू-दलों से अपनी रक्षा करने के मामले में बड़े घाटे में थीं। क्योंकि वे अधिक लाभ के धन्धे में लग गई थीं, इस लिये वह हर समय अपने हलों की तलवारें नहीं बना सकती थीं। और वे अपने घर छोड़ कर इन घुमन्तू-दलों का पीछा भी नहीं कर सकती थीं। इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास बताता है कि जिन लोगों के पास अपनी रक्षा के साधन नहीं होते वे सभ्य होते हुए भी दूसरे असभ्य लोगों का मुकाबला नहीं कर सकते। इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है कि घुमन्तू जातियाँ जब स्थिर होकर एक जगह बसने लगीं तो उनके सामने आत्म-रक्षा की समस्या क्यों और कैसे उपस्थित हुई ?

और परास्त होकर छिन्न-भिन्न हुए मनुष्यों की समस्या कैसे उत्पन्न हुई यह समझना कठिन नहीं। यह आपस में लगातार लड़ते-भिड़ते रहने का ही परिणाम है, जो समाज की उस आरम्भिक अवस्था में उन दलों अथवा जातियों का सामान्य कार्य था। इन दल-गत युद्धों में प्रायः ऐसा होता था कि एक दल का सर्वथा उन्मूलन तो नहीं होता था किन्तु वह परास्त होकर छिन्न-भिन्न हो जाता था। बहुधा जो दल परास्त हो जाता था वह टुकड़े-टुकड़े हो जाता था। इसके परिणाम-स्वरूप समाज के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में एक बड़ी जन-संख्या—जो इसी प्रकार के, परास्त होकर छिन्न-भिन्न हुए लोगों की थी—इधर-उधर घूमती रहती थी। यह समझने के लिये कि इन छिन्न-भिन्न हुए लोगों की समस्या क्यों उत्पन्न हुई इस बात को हृदयङ्गम करना आवश्यक है कि प्रारम्भिक समाज का संगठन दल-गत था। संगठन दल-गत होने के दो अर्थ थे। पहला यह कि प्रारम्भिक समाज में प्रत्येक

व्यक्ति का किसी न किसी दल से सम्बन्ध था। इतना ही नहीं उसे किसी न किसी दल का होकर रहना पड़ता था। दल से बाहर किसी व्यक्ति का कोई अस्तित्व न था, हो ही नहीं सकता था। दूसरे दल-गत संगठन का आधार रक्त-सम्बन्ध होने से कोई भी व्यक्ति जो एक दल में पैदा हुआ हो वह दूसरे दल में सम्मिलित होकर उसका सदस्य नहीं हो सकता था। इस लिये इन छिन्न-भिन्न हुए आदमियों को व्यक्तिगत हैसियत में ही रहना पड़ता था। पर प्रारम्भिक समाज में जहाँ एक दल का दूसरे दल से संग्राम हो रहा हो, इस बात का सदैव डर बना रहता था कि छिन्न-भिन्न लोगों के इन अस्त-व्यस्त समूहों पर भी आक्रमण न हो जायें। वे नहीं जानते थे कि वे कहाँ शरण-स्थान ढूँढें ? वे नहीं जानते थे कि उनपर कौन आक्रमण कर बैठेगा और कौन उनकी रक्षा करेगा ? इसी लिये आश्रय-स्थान मिलना और सुरक्षित रह सकना इन छिन्न-भिन्न हुए लोगों की समस्या थी।

प्रारम्भिक समाज के विकास के बारे में ऊपर जो कुछ भी सार-रूप में कहा गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक समाज के जीवन में एक समय था जब वह दो समूहों में विभक्त हो गया था। एक समूह एक जगह स्थिर रूप से बसे हुए आदमियों का था। उनकी समस्या थी कि उन्हें ऐसे लोग मिलें जो घुमक्कड़ आक्रमणकारियों के विरुद्ध उनकी पहरेदारी का काम करें। दूसरा समूह इन छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमियों का था जिनके सामने यह समस्या थी कि उन्हें कोई ऐसे संरक्षक मिल जायें जो उन्हें भोजन तथा शरण-स्थान दें।

दूसरा प्रश्न है कि इन दोनों समूहों ने अपनी समस्या को कैसे सुलझाया ? यद्यपि हमारे पास प्राचीन काल का कोई ऐसा लेख नहीं है कि जिसके आधार पर हम निश्चयात्मक रूप से यह कह सकें कि दोनों में किसी प्रकार का ऐक्य अथवा समझौता हुआ था तो भी हम कह सकते हैं कि दोनों ने आपस में एक समझौता किया जिसके अनुसार इन छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमियों ने एक जगह स्थिर रूप से बसी हुई जातियों की चौकीदारी अथवा पहरेदारी करना स्वीकार की और दूसरी ओर जो स्थिर रूप से बसी हुई

जातियाँ थीं उन्होंने उन्हें भोजन तथा शरण-स्थान देना स्वीकार किया। सचमुच यह बड़ा अस्वाभाविक होता यदि इस प्रकार की परस्पर व्यवस्था न करली गई होती; क्योंकि दोनों को अपने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये दूसरे के सहयोग की आवश्यकता थी।

इस सौदा के निपटाने में एक कठिनाई अवश्य उत्पन्न हुई होगी—शरण-स्थान की कठिनाई। ये छिन्न-भिन्न हुए आदमी रहें कहाँ ? स्थिर रूप से बसे हुए लोगों के बीच में अथवा उनसे बाहर ? इस समस्या को तै करने में दो बातें निर्णायक सिद्ध हुई होंगी—एक तो रक्त-सम्बन्ध की, दूसरी युद्ध-नीति की। आरम्भिक लोगों की मान्यताओं के अनुसार रक्त-सम्बन्धी ही एक साथ रह सकते थे। कोई भी बाहरी आदमी उस क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकता था जहाँ किसी दल-विशेष का अधिकार हो। ये छिन्न-भिन्न हुए आदमी "बाहरी" थे। वे उस दल के थे जो स्थिर रूप से बसे हुए आदमियों के दल से भिन्न था। जब यह ऐसा था तो उन्हें स्थिर रूप से बसे हुए आदमियों के बीच में नहीं ही रहने दिया जा सकता था। युद्ध-नीति के विचार से भी यह आवश्यक था कि ये छिन्न-भिन्न हुए आदमी गाँव की सीमा पर रहें जिससे वे आक्रमणकारियों का मुकाबला कर सकें। इन दोनों बातों ने मिलकर यही निर्णय कराया कि वे लोग गाँव से बाहर गाँव की सीमा पर रहें।

अब हम फिर अपने मुख्य प्रश्न पर वापिस लौट आ सकते हैं। अछूत गाँव के बाहर क्यों रहते हैं ? ऊपर जो दिशा-निर्देश किया गया है, उस ओर इस प्रश्न का उत्तर पाने का कुछ प्रयत्न किया जा सकता है। यही बात जो अन्यत्र हुई वह भारत में भी हुई होगी जब कि घुमन्तू-जीवन को छोड़ हिन्दू-समाज स्थिर-जीवन की ओर अग्रसर हो रहा था। आरम्भिक-समाज में दोनों तरह के लोग रहे ही होंगे—स्थिर-रूप से बसे हुए और छिन्न-भिन्न हुए परास्त लोग। जो स्थिर रूप से बसे उन्होंने गाँव की बुनियाद डाली और ये गाँव बसे, जो छिन्न-भिन्न हुए परास्त लोग थे वे भिन्न दल के और इस लिये भिन्न-रक्त होने के कारण गाँव से बाहर बसे। इसे निश्चयात्मक भाषा में कहना हो तो आज के "अछूत" किसी समय के छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी

भर हैं, और क्योंकि वे छिन्न-भिन्न हुए परास्त लोग थे, इस लिये वे गाँव के बाहर बसे।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह मानना क्यों स्वाभाविक है कि अपने आरम्भ-काल से ही "अछूत" गाँव के बाहर रहते हैं और उनके गाँव से बाहर रहने से "अछूत-पन" को कुछ लेना-देना नहीं।

यह सुझाव इतना नया है कि आलोचकों को अपने और प्रश्नों का उत्तर पाये बिना संतोष हो ही नहीं सकता। वे पूछ सकते हैं—

(१) क्या इसका कोई प्रमाण है कि "अछूत" छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी हैं ?

(२) क्या इस बात का कोई प्रमाण है कि स्थिर रूप से बसने के जिस क्रम की ऊपर चर्चा की है, वैसा किसी भी देश में हुआ है ?

(३) यदि छिन्न-भिन्न हुए लोगों का गाँव के बाहर रहना एक सर्व-व्यापक घटना है तो यह कैसे हुआ कि और देशों में तो गाँव के बाहर बसी बस्तियाँ नहीं रहीं, और केवल भारत में बनी रहीं ?

क्या अछूत छितरे हुए आदमी हैं ?

यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि क्या "अछूत" मूल में छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी ही हैं तो मेरा उत्तर "हाँ" है। "हाँ" कहने पर अपने कथन को प्रमाणित करना पड़ता है। इस सम्बन्ध के यथार्थ प्रमाण मिल सकते थे यदि किसी ने हिन्दू गाँव के "छूत" और "अछूत" लोगों के परम्परागत "जातीय-चिन्हों" का अध्ययन किया होता। दुर्भाग्य से हिन्दुओं और अछूतों के जातीय-चिन्हों के संस्थान के अध्ययन को नृवंश-शास्त्र के विद्यार्थियों ने आरम्भ नहीं किया है। जब इस प्रकार की सामग्री इकट्ठी हो जायगी तो हम इस परिच्छेद में उठाये गये प्रश्न पर निर्णयात्मक सम्मति दे सकेंगे। अभी के लिए मैंने जो थोड़ी बहुत खोज की है उससे मैं सन्तुष्ट हूँ कि ग्राम-विशेष के "अछूतों" के पारस्परिक जातीय-चिन्ह उसी गाँव के "हिन्दुओं" के पारस्परिक जातीय-चिन्हों से भिन्न हैं।

इस बात के पक्ष में कि "अछूत" छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी हैं, और गाँव में बसने वाली जाति जिस दल की है उससे वे भिन्न दल के हैं, हिन्दुओं और अछूतों के पारस्परिक जातीय-चिन्हों की भिन्नता ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार की सामग्री तो अभी एकत्रित करने को है। लेकिन कुछ ऐसी बातें हैं जो नष्ट होने से बच गई हैं, जो दिशा का निर्देश करती हैं, और जिनसे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि "अछूत" छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी हैं। इस तरह की प्रमाण-परक बातें दो प्रकार की हैं।

एक तो 'अन्त्य', 'अन्त्यज' और 'अन्त्यवासिन्' नाम हैं जो हिन्दू-शास्त्रों ने कुछ जातियों को दे रक्खे हैं। वे बहुत प्राचीन समय से चले आ रहे हैं। कुछ खास लोगों के लिए इन नामों का उपयोग क्यों किया गया? इन शब्दों में कुछ अर्थ छिपा हुआ प्रतीत होता है। ये शब्द निश्चयात्मक

रूप से "सिद्ध" हैं। वे 'अन्त' शब्द के मेल से बने हैं। 'अन्त्य' शब्द का अर्थ क्या है ? पंडितों का कहना है कि 'अन्त्य' शब्द का अर्थ है 'अन्त में उत्पन्न हुआ'। क्योंकि हिन्दुओं के दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुसार "अछूतों" की उत्पत्ति अन्त में हुई, इस लिए 'अन्त्य' शब्द का अर्थ हुआ एक "अछूत"। यह तर्क बेहूदा है, और हिन्दुओं के उत्पत्ति के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार तो "शूद्र" अन्त में पैदा हुए हैं। "अछूत" तो ब्रह्मा की सृष्टि-रचना से बाहर का प्राणी है। शूद्र सवर्ण है। इसके विरुद्ध "अछूत" अवर्ण है। वर्ण-व्यवस्था से बाह्य सृष्टि-रचना के बारे में हिन्दुओं का पहले और पीछे का सिद्धान्त "अछूतों" पर लागू नहीं होता। मेरी समझ में 'अन्त्य' का मतलब सृष्टि का अन्त नहीं, किन्तु गाँव का अन्त है। यह एक नाम है जो गाँव की सीमा पर रहने वाले लोगों को दिया गया है। इस 'अन्त्य' शब्द का ऐतिहासिक महत्व है। यह बताता है कि एक समय था जब कुछ लोग गाँव में रहते थे और कुछ गाँव के बाहर। जो लोग गाँव के बाहर, गाँव के 'अन्त' में रहते थे, वे 'अन्त्यज' कहलाते थे।

कुछ ही लोग गाँव की सीमा पर क्यों रहते थे ? क्या इसका इसके अतिरिक्त कोई और कारण हो सकता है कि वे छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी थे, और वे उस 'दल' के बाहर के थे जिस 'दल' के आदमी गाँव के भीतर रहते थे ? यही खास कारण था, यह बात इन शब्दों के प्रयोग से भी स्पष्ट होती है जिनका इन लोगों के लिए प्रयोग किया गया है। इस प्रकार 'अन्त्य', 'अन्त्यज', 'अन्त्यवासिन्' शब्दों के प्रयोग का दोहरा अर्थ है। पहले तो इससे प्रकट होता है कि गाँव के बाहर पृथक्-वास एक ऐसी अनोखी बात थी कि जिस के लिए नये शब्दों की रचना करनी पड़ी। दूसरे जिन नये शब्दों का प्रयोग किया गया है वे ऐसे हैं कि जिन लोगों के लिए उनका प्रयोग हुआ है उनकी तात्कालिक अवस्था को यथार्थ रूप से चित्रित कर देते हैं, अर्थात् यह बता देते हैं कि वे 'पराये' थे।

दूसरी वे बातें जो बताती हैं कि 'अछूत' छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी थर हैं, 'महार' नाम की एक जाति से सम्बन्धित हैं। महाराष्ट्र में 'महार'

ही मुख्य 'अछूत' जाति है। यह महाराष्ट्र की अकेली सबसे बड़ी मुख्य 'अछूत' जाति है। महारों और दूसरे हिन्दुओं का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट करने वाली निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं। (१) हर गाँव में महार मिलते हैं।* (२) महाराष्ट्र में हर गाँव के गिर्द एक दीवार रहती है और महार उस दीवार से बाहर रहते हैं। (३) महार बारी-बारी से गाँव की पहरेदारी करते हैं। (४) महार अपने ५२ अधिकारों की चर्चा करते हैं जो उन्हें हिन्दुओं से विशेष प्राप्त हैं। इन ५२ अधिकारों में सबसे मुख्य हैं:—

(१) गाँव के लोगों से खाना इकट्ठा करने का अधिकार।

(२) पैदावार के समय हर गाँव से धान इकट्ठा करने का अधिकार।

(३) गाँव में जो पशु मर जाय उसकी लाश को अपने उपयोग में लाने का अधिकार।

इसमें सन्देह नहीं कि महारों की स्थिति से जो बात प्रमाणित होती है, वह केवल महाराष्ट्र के लिये सीमित है। इस बात की अभी खोज करनी बाकी है कि भारत के दूसरे प्रान्तों में भी ऐसी ही स्थिति है या नहीं ? लेकिन यदि महारों की स्थिति को भारत-व्यापी 'अछूतों' की स्थिति का एक नमूना मान लें तो यह स्वीकार करना होगा कि भारत के इतिहास में एक ऐसा समय आया था कि जब दूसरे दलों के छिन्न-भिन्न परास्त लोग एक जगह स्थिर रूप से बसे हुए लोगों के पास आये और उनसे एक प्रकार का सौदा किया जिससे छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमियों को गाँव की सीमा पर बसने की आज्ञा मिल गई। उन्हें कुछ कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था और बदले में उन्हें कुछ अधिकार भी मिल गये। महारों की अनुश्रुति है—उनके ५२ अधिकार उन्हें बरार के मुस्लिम राजाओं से प्राप्त हुए हैं। इसका अर्थ केवल इतना ही हो सकता है कि ये अधिकार तो प्राचीन ही हैं, किन्तु इन्हें बरार के राजाओं ने नये सिरे से मान्यता दी होगी।

ये बातें यद्यपि बहुत मामूली हैं तो भी-उनसे एक सीमा तक यह बात प्रमाणित होती है कि आरम्भ से ही "अछूत" गाँव के बाहर रहते आये हैं।

* मराठी की एक कहावत ही है, जिसका अर्थ है कि 'जहाँ जहाँ गाँव वहाँ वहाँ महार' भी होता ही है।

यह ऐसा नहीं हुआ था कि उन्हें "अछूत" बनाया गया हो और तब गाँव के बाहर जाकर रहने पर मजबूर किये गये हों। वे आरम्भ से ही गाँव के बाहर रहते आये हैं, क्योंकि वे छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी थे और क्योंकि वे उस "दल" के नहीं थे जिस "दल" अथवा "कुल" के वे लोग थे जो गाँव के भीतर बसे हुए थे।

इस बात को स्वीकार करने में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह यह कल्पना है कि "अछूत" सदा से "अछूत" ही चले आये हैं। यह कठिनाई तुरन्त जाती रहेगी जब एक बार यह बात समझ में आ जायेगी कि आज के "अछूतों" के पूर्वज "अछूत" नहीं रहे हैं। वे छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमी भर थे, न कुछ कम न अधिक। उनमें और दूसरे लोगों में यदि कोई भेद था तो इतना ही कि वे छिन्न-भिन्न "दलों" अथवा "कुलों" के लोग थे।

पाँच

क्या अन्यत्र भी ऐसा हुआ है ?

क्या इतिहास को अन्यत्र भी कहीं इस प्रकार परास्त आदमियों के गाँव से बाहर बसने की जानकारी है ? इस प्रश्न का "हाँ" में उत्तर दिया जा सकता है। सौभाग्य से हमारे पास ऐसे उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि जो कुछ भारत में विशेष रूप से हुआ कहा जाता है वह अन्यत्र भी हुआ है। जिन देशों में ठीक इसी तरह की बात हुई कही जाती है उनके नाम आयरलैंड और वेल्ज़ हैं।

आरम्भिक समयों में आयरलैंड के गाँव का संगठन कैसा था—यह ब्रेहन के आयरलैंड के कानूनों से जाना जा सकता है। इन कानूनों से जैसा प्रकट होता है उसकी कुछ कल्पना सर हेनरी मेन द्वारा दिये गये निम्नलिखित सारांश से हो जाती है। सर हेनरी मेन का कहना है—

"ब्रेहन का कानून हमें समाज की उस अवस्था से परिचित कराता है जब "दल" अथवा "कुल" को एक जगह बसे—बहुत करके "दल" की भूमि पर—काफी समय गुजर चुका है। इसका आकार और महत्व इतना अवश्य है कि यह एक राजनीतिक "इकाई" बन सके, और सम्भवतः इसके सर पर अनेक मुखियों में से एक मुखिया है जिसे आयरलैंड के लेखों में 'राजा' कहा गया है। मूल बात जो मान ली जाती है वह यह है कि जितना भी दलीय-क्षेत्र वह सारे के सारे दल का है, किन्तु वास्तव में इसके बड़े बड़े हिस्सों पर दलों के छोटे-छोटे कुलों का स्थायी अधिकार हो गया है। उसका एक हिस्सा मुखिया के लिये निश्चित है और उत्तराधिकार के एक विशेष नियम के अनुसार उसके उत्तराधिकारियों के लिये। दूसरे हिस्से "दलों" के टुकड़ों के अधिकार में हैं, जिनमें से कुछ छोटे-मुखियों के अधीन हैं; और कुछ ऐसे हैं जिन पर यद्यपि किसी मुखिया का सीधा अधिकार नहीं है तो भी कुलीन-वर्ग का कोई न कोई व्यक्ति ही जिनका प्रतिनिधित्व करता है। दल

की जितनी भूमि पर किसी ने अधिकार नहीं किया उस सारी भूमि पर विशेष रूप से दल का सामूहिक अधिकार है, और सिद्धांत-रूप से किसी हिस्से पर भी अस्थायी अधिकार ही हो सकता है। इस प्रकार का अस्थायी अधिकार प्रायः होता रहता है और इस शर्त पर जमीन पर अधिकार करने वाले 'दलीय-लोगों' में कुछ ऐसे लोगों के समूह हैं जो अपने आपको 'दलीय लोग' कहते हैं, किन्तु जो वास्तव में मुख्यरूप से पशु चराने के उद्देश्य से आपस में इकट्ठे होकर समझौता किये हुए हैं। दलीय-भूमि के एक बड़े हिस्से पर किसी का भी अधिकार नहीं है, वह दल की "परती" भूमि है। इतना होने पर भी इस भूमि पर लगातार हल चलता है, या दलीय-लोगों द्वारा स्थायी तौर पर पशु चराये जाते हैं और इस पर खेती करने वाले तथा कमीन लोगों को रहने दिया जाता है, विशेष रूप से सीमा की ओर। यह उस भूमि का एक हिस्सा है, जिस पर मुखिया का अधिकार लगातार बढ़ता है, और वह अपने 'फ्यूद्हिर' या परायों को बसाता है; जिनमें किसानों का एक महत्वपूर्ण वर्ग है। नियम-बाह्य और दूसरे दलों के ऐसे परास्त आदमी होते हैं जो उसके पास सुरक्षा के लिये आते हैं और जिन का अपने नये दल से उतना ही सम्बन्ध रहता है कि वे उसके मुखिया के पास आरक्षा के लिये आते हैं, जो उनकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता है।

ये 'फ्यूद्हिर' कौन थे ? सर हेनरी मेन के मतानुसार फ्यूद्हिर थे :—

"दूसरे प्रदेशों से आगत 'पराये' अथवा शरणार्थी जिन्होंने अपना मूल दल का सम्बन्ध तोड़ लिया था, यह सम्बन्ध जो उन्हें अपनी 'जाति' में एक स्थान देता था और जो नये स्थान में नये दल में जगह पाने के लिये प्रयत्नशील थे। समाज एकदम अस्त-व्यस्त हो गया था। इसका परिणाम यही हुआ कि सारा देश छिन्न-भिन्न हुए परास्त आदमियों से भर गया। इन लोगों के लिये 'फ्यूद्हिर' किसान बन जाना ही एकमात्र निवास और आरक्षा पाने का साधन था।

× × × ×

"फ्यूद्हिर 'दल' का आदमी नहीं था। वह पराया था। उन तमाम समाजों में जिनके व्यक्ति रक्त-सम्बन्ध से एक दूसरे के साथ गुँथे हुए हैं किसी भी

व्यक्ति की बड़ी ही दुर्दशा होती है जिसका सम्बन्ध अपने समाज से टूट गया हो। उसका जो स्वाभाविक स्थान है वह तो जाता ही रहता है, उनके पास उसके लिये और भी कहीं कोई जगह नहीं होती।"

(२)

अब वेल्ज़ की बात। श्री सीभोम ने प्रारम्भिक समयों के वेल्ज़ ग्रामों के संगठन का वर्णन किया है। श्री सीभोम के मत के अनुसार वेल्ज़ का गाँव घरों का समूह था। घर दो हिस्सों में विभक्त थे, स्वतन्त्र किसानों के घर तथा अस्वतन्त्र किसानों के घर। श्री सीभोम का कहना है कि यह पृथक्-पृथक् निवास वेल्ज़ के प्रारम्भिक समयों के गाँव की सामान्य बात थी। यह अस्वतन्त्र किसान पृथक् और दूरी पर क्यों बसाये गये थे? श्री सीभोम ने इस पृथक्ता का कारण इस प्रकार बताया है :—

"यकायक देखने पर वेल्ज़ के प्राचीन कानूनों में जिन दलीय-लोग तथा अदलीय लोग[1] मानव-वर्गों का उल्लेख है, उनमें बड़ा झमेला मालूम देता है। यह झमेला तभी मिटता है जब उस दलीय-समाज के संस्थान का आधार-नियम समझ में आ जाता है। यह सिद्धान्त ऊपरी दृष्टि से एकदम सरल रूप ग्रहण कर लेता है, यदि इसे विजय और भूमि की स्थायी व्यवस्था की उलझनों से मुक्त किया जा सके और मुक्त किया जा सके विदेशी-कानून, रीति-रिवाज तथा नामावलि के आक्रमणों से। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दलीय-समाज के संस्थान का सब से पहला आधार-नियम स्वतन्त्र दलीय-लोगों का आपसी रक्त-सम्बन्ध ही था। कोई भी हो, जो सम्बन्धी न हो, 'दल' का नहीं हो सकता था। 'दल' भी वास्तव में वेल्ज़ के सम्बन्धियों का एक समूह-मात्र ही था। तो मोटे तौर पर वेल्ज़ की दल पद्धति में दो वर्ग थे—वेल्ज़-रक्त वाले और पराये रक्त वाले। भूमि-व्यवस्था अथवा विजय की किसी बात से सर्वथा असम्बद्ध इन दोनों 'दलों' में यदि इसे अनुल्लंघनीय न भी माना जाय तो भी एक बहुत ही गहरी खाई थी। यह रक्त का भेद था और यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि जिस आग्रह से

१ अलत्यूद आदि।

इस भेद की रक्षा की गई है वह दलीय-पद्धति का एक विशेष परिचायक चिन्ह है और साथ ही उसकी शक्ति का एक छिपा हुआ रहस्य भी।"

(३)

प्रारम्भिक समयों में आयरलैण्ड और वेल्ज़ के गाँव के संगठनों के इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के 'अछूत' ही अकेले ऐसे नहीं हैं जो गाँव से बाहर रहते हों। इससे सिद्ध होता है कि यह एक सर्व-व्यापी घटना थी, और इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :—

(१) प्रारम्भिक समय में गाँव की बस्तियाँ दो हिस्सों में विभक्त थीं। एक हिस्से में एक 'दल' के लोग रहते थे, दूसरे हिस्से में दूसरे भिन्न-भिन्न दलों के छिन्न-भिन्न आदमी।

(२) बस्ती का वह हिस्सा जहाँ 'दल' के लोग रहते थे 'गाँव' कहलाता था। छिन्न-भिन्न हुए आदमी गाँव के बाहर रहते थे।

(३) इन छिन्न-भिन्न हुए आदमियों के गाँव से बाहर रहने का कारण यही था कि वे 'पराये' थे और उनका उस 'दल' से कोई सम्बन्ध न था।

भारत के 'अछूतों' तथा आयरलैंड के 'फ्यूदहिर' और वेल्ज़ के 'अल्त्यूद' की उपमा पूरी उतरती है। जिस कारण से आयरलैण्ड में 'फ्यूदहिर' और वेल्ज़ में 'अल्त्यूद' लोगों को गाँव से बाहर रहना पड़ता था, इसी कारण से 'अछूत' गाँव से बाहर रहते आये हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि अछूतों के गाँव से बाहर रहने के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसके उदाहरण अन्यत्र भी विद्यमान हैं।

छः

ये बस्तियाँ अन्यत्र क्यों लुप्त हो गईं ?

यह बात सत्य है कि आयरलैण्ड के 'फ्यूद्दिर' और वेल्ज के 'अल्ल्यूद्' छिन्न-भिन्न आदमी थे। यह भी बात ठीक है कि वे पृथक् बस्तियों में रहते थे। लेकिन यह भी सत्य है कि उन छिन्न-भिन्न हुए लोगों की बस्तियाँ लुप्त हो गईं और वे निश्चित रूप से बसी हुई जातियों के हिस्से बन गये और उन्हीं में घुल मिल गये। यह ज़रा अनोखी चीज है। अभी तक जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है उसके अनुसार उन लोगों को गाँव से बाहर इसी लिये बसाया गया था क्योंकि वे भिन्न 'दल' के थे, भिन्न रक्त के थे। तब यह कैसे हुआ कि वे आगे चलकर "दल" मिल गये ? भारत में भी ऐसी बात क्यों नहीं हुई ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो स्वाभाविक हैं और जिनका उत्तर देना आवश्यक है।

यह प्रश्न ठोस रूप से विकास की उस पद्धति से जुड़ा हुआ है जिस से गुजर कर प्रारम्भिक-समाज ने वर्तमान रूप धारण किया। जैसा पहले भी कहा गया है, यह विकास दो दिशाओं में हुआ है : एक तो प्रारम्भिक समाज का घुमन्तू-अवस्था से स्थिरता की अवस्था को प्राप्त होना, दूसरा प्रारंभिक समाज का कबीला-अवस्था से क्षेत्र-गत अवस्था को प्राप्त होना। जो प्रश्न अभी हमें हैरान किये हुए हैं वह विकास की दूसरी धारा से सम्बन्धित हैं। क्योंकि रक्त की समानता के स्थान पर क्षेत्र की समानता का एकता का बन्धन बन जाना ही वह कारण है जिससे छिन्न-भिन्न लोगों की पृथक् बस्तियाँ नष्ट हो गईं। प्रारम्भिक समाज ने रक्त की समानता के स्थान पर क्षेत्र की समानता को एकता का बन्धन क्यों स्वीकार कर लिया ? यह एक प्रश्न है जिसका कोई संतोषजनक उत्तर विद्यमान नहीं है। परिवर्तन का मूल कारण अज्ञात है। हाँ, यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन कैसे हुआ ?

एक खास अवस्था पर पहुँचने पर प्रारंभिक समाज में एक नियम बना जिसके अनुसार दल-बाह्य आदमी दल का सम्बन्धी बनकर "दल" में घुल मिल सकता था। इस नियम को श्रेष्ठ बनने का नियम कहते थे। यह नियम यही था कि यदि पीढ़ियों की निश्चित संख्या तक कोई दल-बाह्य आदमी "दल" से सटा हुआ रहे अथवा दल में विवाह कर ले, तो वह उनका सम्बन्धी हो सकता है। श्री सीभोम ने वेल्ज़ की ग्राम-पद्धति में एक दल-बाह्य के दल का सदस्य बन जाने के जो नियम थे, उन्हें इस प्रकार दिया है :—

(१) दक्षिण वेल्ज़ की अनुश्रुति के अनुसार सिमरू (वेल्ज़) में रहना 'पराये' को अन्त में 'सिमरू' बना देता है, लेकिन तभी जब वह कम से कम ९ पीढ़ियाँ रहे।

(२) साइमरे के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्तर-विवाह होते रहने से चौथी पीढ़ी में एक "पराये" का वंशज 'सिमरू' हो जाता है। दूसरे शब्दों में मूल पराये का पर-पोता जिसका रक्त ८ हिस्सों में से कम से कम सात हिस्से सिमरू हो चुका "दल" के आदमी के अधिकारों का अधिकारी हो जाता है।

क्या यह बात भारत में नहीं होनी चाहिये थी ? यह हो सकती थी—वास्तव में इसे होना चाहिये था। क्योंकि आयरलैण्ड और वेल्ज़ के समान एक नियम भारत में भी था। मनु ने इसका उल्लेख किया है। दसवें परिच्छेद के ६४-६७ वें श्लोकों में मनु का कथन है कि यदि एक शूद्र सात पीढ़ियों तक ब्राह्मण जाति में विवाह* करे तो वह ब्राह्मण बन सकता है। चातुर्वर्ण्य

---

*शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥ १०—६४
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १०—६५
अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥ १०—६६
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ १०—६७

का सामान्य नियम था कि एक शूद्र कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता। शूद्र पैदा होता था और वह शूद्र ही मर जाता था। वह कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता था। लेकिन यह प्राचीन नियम इतना ज़ोरदार था कि मनु को इसे शूद्रों पर लागू करना पड़ा। यह स्पष्ट है कि यदि यह नियम भारत में चालू रहता तो भारत के छिन्न-भिन्न आदमी गाँव की बस्तियों में घुल-मिल जाते और उन की पृथक् बस्तियाँ न रहतीं।

ऐसा क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर यही है कि "अछूतपन" के विचार का पलड़ा भारी हो गया और इसने सम्बन्धी तथा असम्बन्धी "दलों" के और 'दल-बाह्य' के अर्थात् 'छूत' और 'अछूत' के भेद को एक दूसरे रूप में स्थायी बना दिया। यह एक नई चीज़ आ गई, जिसने आयरलैण्ड और वेल्ज़ का-सा घोल-मेल नहीं होने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि आज हर गाँव में एक पृथक् बस्ती होना भारतीय गाँव का एक आवश्यक अंश हो गया।

तीसरा खण्ड

"अछूतपन" की उत्पत्ति के पुराने सिद्धान्त

सात

अछूतपन का मूल—नसलों की भिन्नता

अछूतपन का मूल क्या है ? जैसे कहा गया है, इस विषय में अभी एकदम खोज नहीं हुई है। समाज शास्त्र के किसी विद्यार्थी का ध्यान अभी इस ओर आकर्षित नहीं हुआ है। समाज-शास्त्रियों से भिन्न जिन लेखकों ने भारत और उसके लोगों के बारे में लिखा है उन्होंने कम या अधिक निंदा के साथ "अछूतपन" के वर्णन से ही संतोष किया है। जहाँ तक मैंने देखा है, मुझे केवल एक लेखक ऐसा मिला है जिसने "अछूतपन" की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। यह लेखक श्री स्टैनले राइस हैं। श्री राइस का मत है :—

"इस बात की बहुत संभावना है कि अछूत विजितों के वंशज हैं। ज्यों-ज्यों जाति और पेशा एक चीज़ बनी, वे डूम, चमार आदि जातियों में गिने गये। आरम्भिक समयों में वे 'दास' बनाकर इन्हीं जातियों में धकेल दिये गये थे। वे आर्यों द्वारा विजित नसलें नहीं थीं; पैरिया के आदिम-वासी थे, जिन्हें द्रविड़ों ने जीता था और क्योंकि वे भिन्न नसल के थे इसलिए उन्हें समानजातीय-चिन्हों की दीक्षा नहीं मिली थी। ऐसा होने से विवाह-सम्बन्ध अनिवार्य होता, और तब मुक्त घुलना-मिलना होने से नसल का ह्रास होता। लेकिन यह निषेध अनुल्लंघनीय नहीं हो सकता। हर चीज़ के अपवाद होते ही हैं। चार हज़ार वर्षों में जो समय समय पर एक नसल का दूसरी नसल से अनिवार्य रक्त-सम्बन्ध हुआ, उसने आदिम वासियों और प्राचीन द्रविड़ों के भेद को मिटा दिया होगा। ये लोग हिन्दू-धर्म में एक प्रकार का निचला दर्जा देकर शामिल कर लिये गये हैं। ये उसी के वायु-मण्डल में इतने समय से रह रहे हैं। हिन्दू-धर्म एक

साथ ही अत्यन्त सहनशील और असहनशील धर्म है। यह दीक्षा नहीं देता; जिस प्रकार तुम एक मुसलमान बन जा सकते हो, उस प्रकार तुम एक हिन्दू नहीं बन जा सकते। जो धर्म के अन्तर्गत रहते हैं, उन पर अत्यन्त कड़े प्रतिबन्ध लागू होते हैं। लेकिन यह उन आदिम-निवासियों का स्वागत करने के लिये सदा तैयार रहा है जो इसके कायदे-कानून मानने के लिये तैयार हुए, चाहे इसने उन्हें एक बहुत ही नीचा दर्जा दिया है, दूर-दूर रखा है और अपने मन्दिरों में जाने नहीं दिया है। इसलिये ऐसा लगेगा कि नृवंश-शास्त्र के तर्क निर्णायक नहीं माने जा सकते, जब हम इन बातों पर विचार करते हैं, जिनका उनके मूल नसल-गत स्वभाव पर प्रभाव पड़ा होगा और जिन्होंने उनके दृष्टिकोण को बदल दिया होगा। इस प्रकार द्रविड़ों ने पैरिया लोगों के साथ वही व्यवहार किया जो आर्यों ने विजितों के साथ किया समझा जाता है। उन्होंने उन्हें 'दास' का दर्जा दिया और उन्हें वे काम सौंपे जिनका स्वयं करना वे अपनी शान के विरुद्ध समझते थे। केवल विवाह ही एक विचारणीय बात नहीं। पैरिया लोगों पर लगे प्रतिबन्धों का कारण एक बड़ी हद तक 'निषेध' के अदृश्य-गुण भी हैं। किसी ऐसे आदमी को अपने परिवार—जिसमें चिन्ह-समानता है—में शामिल करना सामाजिक-मर्यादा के ही विरुद्ध नहीं, इससे उस परिवार पर उनके अपने देवता-विशेष का कोप भी बरस पड़ सकता है। और यदि कहीं उसे मन्दिर की पवित्र सीमाओं के भीतर देवता की पूजा करने दिया गया तब तो आकाश से बरसने वाली प्रलयाग्नि उन्हें जला दे सकती है ...। हाँ, यद्यपि वे पूजा में हिस्सा नहीं ले सकते; किन्तु वे ऐसे नीच काम कर सकते हैं जिनसे पवित्र भवनों के अपवित्र होने का डर न हो। ईसाइयत की भाषा में कहा जाय तो कहना होगा कि यद्यपि एक पैरिया 'वेदी' पर नहीं चढ़ सकता था; 'अर्चन' नहीं कर सकता था, तो भी वह एक शर्त पर घंटी बजा सकता था। वह अपने आपको 'संगत' में शामिल नहीं समझ सकता था, वह वास्तव में 'संगत' से बाहर था। इस अवस्था में वह संस्कार से अपवित्र था। न पानी से, न किसी प्रायश्चित्त से ही

उसका वह धब्बा धुल सकता था, जो निषेध-प्रक्रिया के कारण उस पर लगा हुआ था। उसका स्पर्श करना, दूर-दूर से व्यवहार के अतिरिक्त उससे किसी प्रकार का व्यवहार रखना, मानो एक प्रकार के जादू से अपवित्र हो जाना है। आप उससे अपना खेत जुतवा सकते हैं, क्योंकि उसमें आज्ञा देने के अतिरिक्त आपको उससे और कोई सरोकार नहीं रखना पड़ता। उसके सिर पर 'अपवित्रता' की मोहर लगी है; और यह वैसे ही उसके साथ पैदा हुई है जैसे उसकी नसों का रक्त। और इस प्रकार भारतीय जन-मत ने उसे 'अपवित्र' और 'पतित' तो माना ही था; वह उन पेशों के कारण, जो उसके लिये छोड़े गये, और भी अधिक पतित तथा (दूसरों को) अपवित्र बनाने वाला हो गया।"

श्री राइस के मत के वास्तव में दो हिस्से हैं। उनके मत के अनुसार 'अछूतपन' दो बातों से उत्पन्न हुआ है—'नसल' और 'पेशा'। स्पष्ट ही है कि इन दोनों बातों पर पृथक् २ विचार करना होगा। इस परिच्छेद में हम उनके मत पर अर्थात् नसल के अछूतपन का मूल-कारण होने के संबंध में विचार करेंगे।

श्री राइस के नसल-सिद्धांत में दो बातें हैं :—

(१) अछूत अनार्य हैं, अद्राविड़ हैं, मूल-वासी हैं।

(२) वे द्रविड़ों द्वारा पराजित हुए और अधीन बनाये गये।

इस मत पर विचार करने बैठते हैं तो भारत पर विदेशी आक्रमण-कारियों के आक्रमण, उनकी विजय, और उससे उत्पन्न सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थायें, सभी प्रश्न सामने आते हैं। श्री राइस के मतानुसार भारत पर दो आक्रमण हुए हैं। पहला आक्रमण द्रविड़ों का है। उन्होंने अद्रविड़ आदिम-वासियों को—वर्तमान अछूतों के पूर्व-पुरुषों को—जीता और उन्हें 'अछूत' बनाया। दूसरा है भारत पर आर्यों का आक्रमण। आर्यों ने द्रविड़ों को जीता। वह यह नहीं बताते कि विजयी आर्यों ने विजित द्रविड़ों के साथ कैसा व्यवहार किया ? यदि उन्हें उत्तर देने के लिए मजबूर किया जाये तो शायद वे कहें कि आर्यों ने उन्हें 'शूद्र' बना दिया।

यह तो एक बनी-बनाई शृङ्खला हाथ लग गई। द्रविड़ों ने आक्रमण किया और मूलवासियों को 'अछूत' बनाया। आर्यों ने आक्रमण किया और द्रविड़ों को 'शूद्र' बनाया। यह मत मशीन-मत है, एक कल्पना-मात्र, इतना अधिक बचपन लिये हुए कि इससे शूद्रों और अछूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो नाना उलझे हुए प्रश्न हैं, उनका समाधान नहीं हो सकता।

प्राचीन इतिहास के विद्यार्थी जब अतीत में डुबकी लगाते हैं तो उन्हें चार नाम प्रायः मिलते हैं— आर्य, द्रविड़, दास और नाग। इन नामों का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न पर कभी विचार नहीं किया गया। क्या ये आर्य, द्रविड़, दास और नाग चार भिन्न २ नसलों के चार नाम हैं अथवा एक ही नसल के चार नाम हैं ? सामान्य मान्यता है कि ये चार भिन्न नसलें हैं। यह एक ऐसी मान्यता है जो श्री राइस के मत के समान मतों का आधार है। यह मत हिन्दू-समाज की रचना, विशेष-रूप से इसके वर्गीय-आधार की व्याख्या करने का प्रयत्न है। इस प्रकार के मत को स्वीकार करने से पहले उसके आधार की परीक्षा कर लेनी होगी।

हम 'आर्यों' से आरम्भ करें तो यह निर्विवाद है कि वे एक ही तरह के लोग नहीं थे। वे दो हिस्सों में विभक्त थे, इस बारे में मत-भेद हो ही नहीं सकता[1]। यह भी निर्विवाद है कि दोनों की दो भिन्न संस्कृतियाँ थीं। दोनों में से एक को हम ऋक्-वेदीय आर्य कह सकते हैं, और दूसरों को अथर्व-वेदीय। इनके बीच की सांस्कृतिक खाई एकदम पूरी पूरी प्रतीत होती है। ऋक्-वेदीय आर्य यज्ञों में विश्वास करते थे, अथर्व-वेदीय जादू-टोने में। उनकी पुराण-कथायें भिन्न-भिन्न थीं। ऋक्-वेदीय आर्य बाढ़ और मनु से सृष्टि की उत्पत्ति में विश्वास करते थे। अथर्व-वेदीय आर्य 'बाढ़' में विश्वास नहीं करते थे। वे मानते थे कि उनकी नसल ब्रह्मा या प्रजापति से उत्पन्न हुई। उनके साहित्यिक विकास के भी भिन्न-भिन्न रास्ते थे। ऋक्-वेदीय आर्यों ने ब्राह्मण, सूत्र तथा आरण्यकों की रचना की। अथर्व-वेदीयों ने उपनिषदों की रचना की। यह साहित्यिक-संघर्ष इतना बड़ा था

---

[1] इस विषय की विस्तृत चर्चा के लिए मेरी "शूद्र कौन थे ?" पुस्तक देखें।

कि ऋक्-वेदीय आर्यों ने चिरकाल तक न अथर्व-वेद को और न उपनिषदों को पवित्र वाङ्मय ही माना और जब उन्होंने उपनिषदों को स्वीकार किया तो उसे 'वेदान्त' कहा। आजकल 'वेदान्त' शब्द का अर्थ 'वेद का सार' किया जाने लगा है। किन्तु इसका प्राचीन अर्थ रहा है 'वेद' के अन्त में, 'वेद' की सीमा के बाहर, वेद के सदृश पवित्र नहीं। वे इसके अध्ययन को अनुलोम अध्ययन मानते थे। हम नहीं जानते कि आर्यों के ये तीनों विभाग दो भिन्न-भिन्न नसलें थीं अथवा नहीं ? हम यह भी नहीं जानते कि 'आर्य' किसी नसल का ही नाम रहा है ? इसलिये इतिहासज्ञ जो यह मान कर चले हैं कि आर्य एक भिन्न 'नसल' थे, यह उनकी गलती हुई है।

इससे भी बड़ी गलती 'दासों' को 'नागों' से पृथक् करना है। 'दास' और 'नाग' एक ही हैं। दास नागों का केवल दूसरा नाम-मात्र है। यह समझना कठिन नहीं है कि वैदिक वाङ्मय में 'नागों' का ही नाम 'दास' क्यों पड़ गया ? 'दास' भारतीय-ईरानी शब्द 'दाहक' का संस्कृत-रूप है। नागों के राजा का नाम दाहक था। इसलिये आर्यों ने नागों के राजा के नाम पर सभी नागों को सामान्य रूप से 'दास' कहना आरम्भ किया।

नाग कौन थे ? निस्संदेह वे अनार्य थे। वैदिक वाङ्मय को ध्यान से देखने से उसमें एक विरोध की भावना, द्वैत की भावना, दो तरह की संस्कृतियों और विचार-धाराओं के बीच चढ़ा-ऊपरी की भावना साफ तौर पर दिखाई देती है। ऋक्-वेद में हमारा परिचय आर्य-देवता इन्द्र के शत्रु अहि-वृत्र (सांप-देवता) से होता है। पीछे चलकर यह सांप-देवता नाग नाम से इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ; किन्तु आरम्भिक वैदिक वाङ्मय में नाग नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। और जब यह शतपथ ब्राह्मण में प्रथम बार आता है (XI, २, ७, १२) तो यही स्पष्ट नहीं होता कि नाग का मतलब एक बड़ा साँप है या एक बड़ा हाथी। लेकिन इससे अहि-वृत्र का स्वरूप नहीं ढकता, क्योंकि ऋक्-वेद में उसका स्वरूप सदैव एक पानी में अथवा उसके चारों ओर छिपे तथा आकाश और पृथ्वी के जल पर समान रूप से अधिकार किये हुए सर्प का है।

अहि-वृत्र सम्बन्धी वेद-मन्त्रों से यह भी स्पष्ट है कि आर्य उसकी पूजा नहीं करते थे। वे उसे आसुरी-प्रकृति का एक शक्तिशाली देवता मानते थे, जिसे परास्त करना ही इष्ट था।

ऋक् वेद में नागों का नाम आने से यह स्पष्ट था कि नाग एक बहुत ही प्राचीन जाति थी। यह भी याद रखने की बात है, कि नाग न तो आदिवासी ही थे, और न असभ्य ही। इतिहास नागों और राजकीय परिवारों के बीच निकट वैवाहिक सम्बन्धों का साक्षी है।

कदम्ब-नरेश कृष्णवर्मा के देवगिरि शिला-लेख के अनुसार कदम्ब-कुल के आरम्भ का नागों से सम्बन्ध था। नौवीं शताब्दी के रायकोट के दान-पात्र में अश्वत्थामा के एक नागी (नागिन) के साथ विवाह का उल्लेख है। उन्हीं की सन्तान स्कन्द शिष्य ने पल्लव-वंश की स्थापना की। नौवीं शताब्दी के ही एक दूसरे पल्लव शिला-लेख के अनुसार वीर-कूर्च पल्लव-वंश का राजा था। इसी शिला-लेख में लिखा है कि उसने एक नागी से विवाह किया था और उससे उसे राज-चिह्न मिला था। वाकाटक-नरेश प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र का भारशिव-नरेश भवनाग की कन्या के साथ विवाह करना एक ऐतिहासिक घटना है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाग-कुल की कुबेर-नाग नामक कुमारी से विवाह हुआ। एक तमिल कवि का कहना है कि कोकिल्ली नाम के एक प्राचीन चोल नरेश ने एक नाग-कुमारी से विवाह किया था। राजेन्द्र चोल को भी अपनी तेजस्विता के कारण एक नाग-कन्या का पाणिग्रहण करने का श्रेय दिया जाता है। 'नवसाहसाङ्क-चरित' में परमार-नरेश सिन्धुराज (जिसने दसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में राज्य किया होगा) और शशिप्रभा नामक नाग-कन्या के विवाह का इस विस्तार से और ऐसी यथार्थता से वर्णन है कि हमें लगभग यह विश्वास ही हो जाता है कि इस कथन का कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक आधार अवश्य होगा। १०३०-९७३ (वि० सं) के हर्ष के शिला-लेख से हमें इस बात का पता लगता है कि गुवाक प्रथम 'नागों और कुमारों की सभाओं में वीर-रूप से प्रसिद्ध था।' यह नरेश विग्रहराज

छहमान से ऊपर की पीढ़ी में छठा था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह नौवीं शताब्दी के मध्य में राज्य करता रहा होगा। उड़ीसा के भौमन वंश के शान्तिकर के पुत्र के एक शिला-लेख में लिखा है कि उसने नाग-परिवार की त्रिभुवन महादेवी से विवाह किया। शान्तिकर का समय ९२१ ई० के आस-पास समझना चाहिये।

नाग सांस्कृतिक विकास की ऊँची अवस्था को तो प्राप्त थे ही, किन्तु इतिहास से यह भी मालूम होता है कि वह देश के एक बड़े भूभाग पर राज्य भी करते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महाराष्ट्र नागों का घर है। यहाँ के लोग और यहाँ के राजा नाग थे।

एक से अधिक प्रमाणों से यह अनुमान लगता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में आन्ध्र देश और उसका पड़ोस नागों के अधीन था। सात वाहनों और उनके ऋतुकुल सातकर्णी उत्तराधिकारियों का रक्त नाग-रक्त ही था। जैसा डा० एच (?) सी (?) राय चौधरी ने निर्देश किया है कि सातवाहन वंश के पौराणिक प्रतिनिधि सालीवहरण को द्वात्रिंशत्-पुकलित्त ने ब्राह्मण और नाग के मेल से उत्पन्न स्वीकार किया है। उनकी वंशावलियों में जो नमूने के नाग नाम मिलते हैं उनसे यह बात पर्य्याप्त रूप से सिद्ध हो जाती है। अनेक घटनाओं से यह भी सिद्ध होता है कि सातवाहन राज्य के अंतिम दिनों में नाग बहुत शक्तिशाली हो गये थे। सातवाहन वंश की मुख्य शाखा के अंतिम नरेश पुलुमवी के राज्य-काल में स्कन्द-नाग नामक राजा राज्य करता था। दूसरे, एक छुतु नरेश की कन्या नाग मुलनिका के बारे में उल्लेख है कि उसने शिव-कन्द-नाग-श्री नाम के अपने पुत्र के साथ एक नाग की भेंट दी। इस वंश के सभी ज्ञात नरेशों के नाम वही हैं। इससे नागों से निकट सम्बन्ध सिद्ध होता है। तीसरे, सोरिनगोई की राजधानी उरगपुर के नाम से यह बात झलकती है कि यह किसी नाग-राजा का अलग-थलग राज्य नहीं था, किन्तु उस चिर-काल स्थित प्रदेश में वह नागों का एक उपनिवेश था।

सिंहल और स्याम की अनुश्रुति से भी हमें यह ज्ञात होता है कि कराची के पास मजेरिक नाम का एक नाग-प्रदेश था।

तीसरी शताब्दी और चौथी शताब्दी के आरम्भिक हिस्से में उत्तर-भारत भी अनेक नाग-नरेशों द्वारा शासित रहा है। यह बात पुराणों, प्राचीन सिक्कों तथा प्राचीन-लेखों—तीनों से सिद्ध होती है। विदिशा (वर्तमान भिलसा) के तीन स्वतन्त्र प्रदेश—चम्पावती अथवा पद्मावती और मथुरा—तीनों का स्पष्ट रूप से ऐसा उल्लेख मिलता है कि उनके महत्वपूर्ण होने में किसी तरह का सन्देह नहीं रह जाता। भारशिव वंश के एकमात्र ज्ञात नरेश का नाम भवनाग भी नागों से ही सम्बन्ध जोड़ता प्रतीत होता है। यहाँ यह सम्भव नहीं है कि हम द्वितीय-समूह के सिक्कों के विवाद में उतर सकें अथवा इन पौराणिक राजाओं के साथ अच्युत गणपति नाग वा इलाहाबाद-स्तम्भ के नागसेन को मिला सकें। प्राचीन इतिहास में जितने नागों का उल्लेख है, उनमें से चतुर्थ शताब्दी के नाग-परिवार सबसे अधिक महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से साधार प्रतीत होते हैं। हमें पता नहीं कि लाहौर की ताम्र-मुद्रा के नाग भट्ट और उनके पुत्र महाराज मोहेश्वर नाग उक्त तीन-परिवारों में से किसी एक के थे, अथवा अपने में एक और पृथक् नाग-परिवार था। लेकिन इन सब से डा० सी (?) सी (?) राय के निष्कर्ष का समर्थन होता है कि उत्तर भारत में चतुर्थ शताब्दी के कुशान राज्यों को नव नागों ने जीत लिया, तो वह लुप्त हो गये। ये नाग उत्तरापथ के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्य करते रहे होंगे। पीछे तो उन्हें भी समुद्र-गुप्त की सेनाओं ने बहा दिया।

जो हो, स्कन्दगुप्त के समय तक, हम एक सर्वनाग को अंतर्वेदी का गवर्नर पाते हैं। सौराष्ट्र के आस-पास विशेष रूप से भरुकच्छ में छठी शताब्दी तक नागों का महत्वपूर्ण स्थान रहा प्रतीत होता है। जूनागढ़ शिला-लेख से यह पता लगता है कि स्कन्दगुप्त ने नागों के एक विद्रोह को बुरी तरह दबाया था। ५७० ई० में दद्दा प्रथम गुर्जर ने नागों को उखाड़ फेंका। इन्हें त्रिहुल्लक या ब्रोच द्वारा शासित जंगल के लोग माना गया है। ध्रुव-

सेन द्वितीय के ६४५ ई० के दान-पत्र में प्रमातृ श्रीनाग का दूतक के तौर पर उल्लेख है।

नौवीं शताब्दी में नागों को विशेष रूप से मध्यभारत में दूसरी बार फिर महत्व प्राप्त हुआ। ८०० ई० में कोशल-स्थित श्रीपुर के महाराज त्रिवर-देव ने एक नाग-वंश को हराया। इसके कुछ समय बाद हमें बङ्गाल के शिला-लेखों में भी नागों के दो उल्लेख मिलते है। महामाण्डलिक ईश्वर घोष का रामगंज का लेख। धेक्कारी के एक घोष नाग परिवार से हमें परिचित कराता है। इसे ग्यारहवी शताब्दी में माना गया है। बारहवीं शताब्दी के हरिवर्म देव के मन्त्री भट्ट भवदेव की भुवनेश्वर प्रशस्ति में भी उसके द्वारा नागों के विनाश का उल्लेख है। रामचरित्र ने भी रामपाल द्वारा भव-भूषण-सन्तति के राज्य उत्कल की विजय का उल्लेख किया है। लेकिन यहाँ यह अस्पष्ट है कि वे नाग थे अथवा चान्द्र ? अधिक सम्भावना यही है कि वे नाग ही थे, क्योंकि वे ही अधिक प्रसिद्ध थे।

दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक सेन्द्रक, सिन्द अथवा छिन्दक परिवार की भिन्न भिन्न शाखायें शनैः शनैः मध्यभारत के, (विशेष रूप से बस्तर में) भिन्न-भिन्न भू-प्रदेशों में फैल गईं। दसवीं शताब्दी के शिला-लेखों में बेगूर के नागरत्तों का भी वर्णन है। वे पश्चिम गङ्ग के राजा एरियप्पा की ओर से वीर महेन्द्र के विरुद्ध लड़े और युद्ध में यश प्राप्त किया। यदि 'नवसाहसाङ्क-चरित' की साक्षी सही स्वीकृत की जाय तो सिन्धुराज परमार की रानी का पिता नाग-नरेश इसी समय के आस-पास नर्मदा के तट पर रत्नवती में राज्य करता रहा होगा।

द्रविड़ कौन है ? क्या वे नागों से भिन्न हैं ? अथवा क्या ये एक ही नसल के लोगों के दो भिन्न नाम हैं ? प्रचलित मत है कि द्रविड़ और नाग दो भिन्न नसलें थीं। यह मत लोगों को अनोखा लगेगा, किन्तु तो भी यही बात सही है कि द्रविड़ और नाग केवल दो भिन्न नाम हैं, नसल एक ही है।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि बहुत ही थोड़े लोग इस

बात को स्वीकार कर सकेंगे कि द्रविड़ और नाग एक ही नसल के दो भिन्न नाम हैं, और उससे भी कम लोग यह स्वीकार करेंगे कि 'नागों' के रूप में द्रविड़ों ने न केवल दक्षिण-भारत पर किन्तु उत्तर और दक्षिण—सारे भारत पर अधिकार रखा है। किन्तु, यह ऐतिहासिक सत्य है।

हम देखें कि इस विषय के अधिकारी विद्वानों का क्या मत है ? श्री दीक्षितय्यर—एक प्रसिद्ध दाक्षिणात्य पण्डित ने अपने 'रामायण में दक्षिण भारत' शीर्षक लेख में लिखा है :—

"नाग—एक दूसरा दल, जो कि अर्ध-अलौकिक है, और जिनका जातीय-चिन्ह सर्प है पश्चिम-उत्तर में तक्षशिला से लेकर उत्तर-पूर्व में असम तक और सिंहल तथा दक्षिण-भारत में भी इस प्रकार सारे भारत में फैले थे। एक समय वे शक्तिशाली रहे होंगे। या तो यक्षों (यक्वों ?) के समकालीन या राजनीतिक सत्ता के तौर पर उनके पतन के बाद दक्षिण-भारत में नागों की प्रधानता हुई। न केवल सिंहल किन्तु प्राचीन मलबार के प्रदेशों पर भी प्राचीन नागों का अधिकार था। ईसा के बाद की आरम्भिक शताब्दियों के तमिल ग्रन्थों में प्रायः नागनदु का उल्लेख आता है......अभी भी मलबार में नाग-पूजा के अवशेष जैसे-तैसे चले आ रहे हैं। दक्षिण त्रावणकोर का नागर-कोविल आज भी नाग-पूजा को समर्पित है। उनके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि नाग लोग समुद्री-लोग थे। उनकी स्त्रियाँ सौंदर्य्य के लिये प्रसिद्ध थीं। ऐसा लगता है कि नाग चेरों में घुल-मिल गये थे, जिन्होंने ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास शक्ति और प्रसिद्धि प्राप्त की।"

श्री ओलढम ने इस विषय का गहरा अध्ययन किया है। उनके कथन से इस विषय पर और प्रकाश पड़ता है :—

"प्राचीन समय से द्रविड़ लोग तीन भागों में बँटे रहे हैं—चेर, चोल तथा पाण्ड्य। चेर अथवा सेर (प्राचीन तमिल में सरे) नाग का पर्य्यायवाची है, चेरमण्डल, नागद्वीप या नागप्रदेश। इससे स्पष्ट तौर पर यह झलकता है कि दक्षिण के द्रविड़ों की उत्पत्ति असुरों से हुई है। उसके

अतिरिक्त अभी भी गंगा की उपत्यका में कुछ ऐसे लोग चारों ओर फैले हुए हैं, जो अपने आपको चेरू या सेओरी कहते हैं और जिनका कहना है कि वह नाग-देवता के वंशज हैं। चेरू बहुत प्राचीन नसल के हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गंगा की उपत्यका के एक बड़े हिस्से पर उनका अधिकार रहा है, जिस पर जैसा कि हम देख चुके हैं, अत्यन्त प्राचीन काल में नागों का अधिकार था। मुस्लिम—आक्रमण के अशान्त दिनों में चेरू अपनी भूमि से अधिकार-च्युत हो गये प्रतीत होते हैं। अब ये एकदम निर्धन हैं और उनके पास एक प्रकार से भूमि है ही नहीं। इसमें तनिक सन्देह नहीं हो सकता कि ये लोग अपने द्रविड़-बन्धु चेरों के सम्बन्धी हैं।

चेरुओं में कई विचित्र रीति-रिवाज हैं। उनमें एक ऐसा है जो लिच्छवियों और नैपाल के नेवारों से उनका सम्बन्ध जोड़ता प्रतीत होता है। यह है प्रत्येक पाँच या छ: घरों पर एक 'राजा' का चुना जाना, और 'तिलकों' आदि से उनका राज्याभिषेक करना। लिच्छवियों तथा नेवारियों दोनों में ही बहुत से ऐसे रीति-रिवाज हैं जो दक्षिण के द्रविड़ों के समान हैं। प्रत्येक साँप की पूजा करता है। करकोटक नाग का नैपाल में वही स्थान है जो नील नाग का काश्मीर में। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली का भी एक नाग ही रक्षक-देवता था। लिच्छवियों और नेवारों के विवाह-सम्बन्ध तमिल लोगों के अत्यधिक सदृश हैं, और उनसे समान उत्पत्ति की बात पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

नेवारों में जायदाद पर मातृ-पक्ष के अनुसार अधिकार होता (रहा) है, जैसा कि कभी पंजाब के अरट्ट, बाह्लिक और तखस लोगों में। उनमें उनका अपना पुत्र उत्तराधिकारी न होकर उनकी बहन का बेटा उत्तराधिकारी होता था। यह अभी भी एक द्रविड़-रिवाज है। थोड़े में कहना हो तो अविदूर अतीत के एक द्रविड़ लेखक श्री बालकृष्ण नैय्यर का कहना है कि उन्हें उनके आदमी "लगभग हर खास बात में नेवारियों के सगे-सम्बन्धी लगते हैं।"

इनके अतिरिक्त दूसरी कड़ियाँ भी हैं जो दक्षिण के नागों को उत्तर

के लोगों के साथ मिलाती हैं। चम्बल नदी के समीप कंसवाह में कर्नल टाड को मिले एक शिलालेख के अनुसार शैलेन्द्र नाम का एक राजा तख्यों पर राज्य करता था, जो 'सरय' नसल का था। यह 'दल' शक्तिशालियों के दल में प्रसिद्ध था।

यह स्पष्ट ही है कि यह तख्य या तख पंजाब का वही राज्य था, जहाँ ह्यूनसाँग आया था, और जिसका पहले उल्लेख हो ही चुका है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तख्य के 'नाग' लोग 'सरय' भी कहलाते थे।

फिर बाह्य-हिमालय में, सतलज और व्यास की उपत्यका के बीच सरज या स्योरज नाम का एक प्रदेश है। इसमें नाग-देवताओं की ही विशेष पूजा होती है।

ऊपरी चिनाब उपत्यका में एक दूसरा 'स्योरज' है। वहाँ भी नाग-पूजक लोग ही रहते हैं।

'सरज' अथवा 'स्योरज' कर्नल टाड के शिलालेख का 'सरय' ही प्रतीत होता है। गङ्गा की उपत्यका के 'चेरु' लोगों का दूसरा नाम 'स्योरि' भी यही है। चेर अथवा नाग लोगों का पुराना तमिल नाम 'सरे' भी यही लगता है। इसलिये यह स्पष्ट-सा ही है कि 'सरय' या 'तख्य', सतलज उपत्यका के 'सरज', गङ्गा के स्योरि अथवा चेरु और दक्षिण के चेर, सेर वा केरल—सभी नागपूजक लोगों की ही भिन्न भिन्न शाखायें हैं।

इस बात की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है कि हिमालय-प्रदेश की कुछ बोलियों में 'किर' या 'किरी' का अर्थ साँप है। कदाचित् इसी शब्द से 'किरात' शब्द बना हो। हिमालय के लोगों के लिए इस शब्द का बहुत प्रयोग होता है। 'राजतरंगिणी' में यह शब्द काश्मीर के या उसके आस-पास के लोगों के लिये आया है। वराहमिहिर ने भी 'किरों' का उल्लेख किया है। प्रो० कील हार्न द्वारा प्रकाशित एक ताम्र-पत्र में भी इसका उल्लेख है।

कांगड़ा उपत्यका में बैजनाथ मन्दिर है। वहाँ के एक शिलालेख में उस स्थान का नाम किरग्राम है। स्थानीय बोली में इसका अर्थ होगा साँपों

का गाँव। नाग अभी भी बैजनाथ का और आस-पास के सारे प्रादेशिक अन्न-प्रिय देवता है, और इस प्रकार कीरा (कीड़ा) शब्द नाग का पर्य्याय-वाची है और इसमें कुछ सन्देह नहीं रह जाता कि हिमालय के सर्पपूजक कीरा दक्षिण के द्रविड़ केर, चेर अथवा केरल के सम्बन्धी थे।

नाम की समानता सदैव विश्वसनीय नहीं होती किन्तु यहाँ हमारे पास कुछ और भी है। ये लोग जिनके नाम स्पष्टतः एक ही हैं, सभी सूर्य्यवंशी हैं। वे सभी मनियर-नाग को मानते हैं और सभी नाग-देवताओं को अपने पूर्वज मान उनकी पूजा करते हैं।

उपरोक्त कथन से यह लगभग निश्चित है कि दक्षिण के द्रविड़ उसी परम्परा के हैं; जिस परम्परा के उत्तर के नाग और असुर।

√ इससे यह स्पष्ट है कि नाग और द्रविड़ एक ही और वही जाति हैं। इतने प्रमाण होने पर भी सम्भव है लोग इस मत को स्वीकार न करें। इस मत को स्वीकार करने में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह दक्षिण के लोगों के 'द्रविड़' नाम की है। उनके लिये यह पूछना स्वाभाविक होगा कि यदि दक्षिण के लोग 'नाग' ही हैं तो केवल वे ही 'द्रविड़' क्यों कहलाते हैं? आलोचक अवश्य पूछेंगे; यदि 'द्रविड़' और 'नाग' एक ही लोग हैं तो दक्षिण के लोगों के लिये भी 'नाग' शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं हुआ? इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक गुत्थी है। किन्तु यह कोई ऐसी गुत्थी नहीं जो सुलझाई न जा सके। यह सुलझ सकती है, यदि कुछ बातों को ध्यान में रखा जाय।

पहली बात जो ध्यान देने की है, वह भाषा-सम्बन्धी स्थिति है। आज दक्षिण की भाषा उत्तर की भाषा से भिन्न है। क्या यह सदैव से है। इस प्रश्न पर श्री ओल्डहम के विचार ध्यान देने योग्य हैं :—

"यह स्पष्ट है कि प्राचीन संस्कृत वैयाकरण द्रविड़-प्रदेशों की भाषा को उत्तर की बोलियों से सम्बन्धित मानते थे, और उनकी सम्मति में इसका उन लोगों की भाषा से विशेष सम्बन्ध था, जो जैसा हमने देखा है 'असुरों' के वंशज प्रतीत होते हैं। उस प्रकार, सहस्रचन्द्रिका में, लक्ष्मीधर का कथन

है कि पाण्ड्य, केकय, बाह्लीक, सह्य तथा नेपाल—पैशाची देशों—में पैशाची भाषा बोली जाती है। कुन्तल, सुदेश, भोट, गन्धार, हैव और कनोजन—ये पैशाची देश हैं। सब बोलियों में पैशाची में संस्कृत का सबसे कम अंश है।

"असुर आरम्भ में आर्यों से भिन्न कोई भाषा बोलते थे, यह स्पष्ट है। प्रो० म्यूर ने ऋग्वेद से बहुत से अनुच्छेद उद्धृत किये हैं जिनमें असुरों की भाषा के लिये 'मृद्वाच्' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'मृद्वाच्', जिसका मेरा अर्थ 'हानि-प्राप्त बोली' है, सायण के अनुसार उन लोगों की बोली है, जिनकी जिह्वा नष्ट हो गई है। इसमें सन्देह नहीं कि इस शब्द का मूल अर्थ यही रहा है कि असुरों की भाषा आर्यों को कम या अधिक मात्रा में समझ में नहीं ही आती रही है। ऋग्वेद के एक दूसरे अनुच्छेद पर भी यही व्याख्या ठीक उतरती है, जिसमें कहा गया है कि 'हम इन्द्र को प्रसन्न कर अप-शब्द बोलने वालों को जीत लें।'

"शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि 'असुरों को वाणी न होने से वे कहीं के नहीं थे। वे 'हेलवः हेलवः' चिल्लाते थे। उनकी वाणी ऐसी ही अबोध-गम्य थी। और जो इस प्रकार बोलता है, वह म्लेच्छ है। इसलिये कोई ब्राह्मण बर्बर-भाषा न बोले; क्योंकि यह असुरों की भाषा है।' *

"मनु में लिखा है कि 'जो ब्रह्मा के मुँह, बाहु, जाँघ और पैरों से उत्पन्न वर्णों से बाहर के हैं, चाहे वे म्लेच्छ भाषा बोलें, चाहे आर्य-भाषा: वे दस्यु हैं।' इससे स्पष्ट है कि मनु के समय में आर्य-भाषा के साथ-साथ म्लेच्छ अथवा असुरों की भाषा भी बोली जाती थी। तो भी, महाभारत में जिस समय का उल्लेख किया गया है, आर्य-प्राण जातियों में असुर भाषा लगभग मर गई होगी। विदुर ने जब युधिष्ठिर को सम्बोधित करके कहा

* तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः ॥ तत्रैतामपि वाचमूदुः। उपजिज्ञास्यां स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वागेव......
(शतपथ-ब्राह्मण)

तो म्लेच्छ भाषा का उपयोग किया, जिसमें युधिष्ठिर के अतिरिक्त और कोई समझ न सके।

"इसके बाद के समय में राम तर्कवागीश वैयाकरण ने 'नाग-भाषायें' बोलने वालों का उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि अपरिवर्तित असुरों ने अपने बदल गये भाइयों के बहुत बाद तक अपने धर्म और अपने परम्परागत रीति-रिवाजों की रक्षा की। इन्हीं अपरिवर्तित जातियों में ही, पैशाची बोलियों का उपयोग होता था, और जैसा हम अभी देख चुके हैं, उन्हीं जातियों में द्रविड़-पाण्ड्य थे।'

"तमिक और दूसरी सम्बन्धी बोलियों का आधार प्राचीन असुर भाषा ही है, इस मत का समर्थन इस बात से भी होता है कि सिंध की सीमा पर रहने वाली ब्राहुई नाम की एक जाति की भाषा उनकी भाषा के बहुत ही समीप सिद्ध हुई है। वास्तव में डा० काल्डवैल का कहना है कि 'ब्राहुई (भाषा) के कारण हम द्रविड़ नसल के चिन्हों को सिन्ध पार मध्य एशिया के दक्षिण तक खोज सकते हैं।' यह प्रदेश, जैसा कि मैं पहले निर्देश कर चुका हूँ, असुरों अथवा नागों का घर था। द्रविड़ राज्यों के संस्थापक बहुत करके इसी नसल के रहे होंगे।

"जितने भी प्रमाण एकत्र किये गये हैं, उन पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि दक्षिण के द्रविड़ और उत्तर के असुर अथवा नाग एक ही परम्परा के लोग हैं।"

दूसरी बात जो ध्यान देने की है, वह यह है कि 'द्रविड़' एक मौलिक शब्द नहीं है। यह 'तमिक' शब्द का संस्कृत रूप है। मूल शब्द 'तमिक' जब संस्कृति में आया तो वह 'दमिल' हो गया और 'दमिल्ल' ही 'द्रविड़' बन गया। 'द्रविड़' शब्द लोगों की भाषा का नाम है। उससे किसी 'नसल' का बोध नहीं होता।

तीसरी बात जो याद रखने की है कि 'तमिक' या 'द्रविड़' केवल दक्षिण-भारत की ही भाषा नहीं थी, किन्तु आर्यों के आगमन से पूर्व समस्त भारत की भाषा थी, और कश्मीर से रामेश्वरम् तक बोली जाती

थी। इससे अगली बात जो ध्यान देने की है वह आर्यों और नागों का सम्बन्ध और नागों तथा उनकी भाषा पर इसका जो प्रभाव पड़ा, वह है। यह विचित्र बात लगेगी किन्तु इस सम्बन्ध का उत्तर के नागों पर जो प्रभाव पड़ा वह उस प्रभाव से बिल्कुल भिन्न था जो दक्षिण-भारत के नागों पर पड़ा। उत्तर के नागों ने अपनी मातृभाषा तमिक को छोड़ दिया और संस्कृत को अपना लिया। दक्षिण के नाग अपनी मातृ-भाषा तमिक से चिपटे रहे और आर्यों की संस्कृत भाषा को नहीं अपनाया। यदि यह भेद ध्यान में रहे तो उससे इस बात के समझने में सहायता मिलेगी कि 'द्रविड़' नाम केवल दक्षिण-भारत के ही लोगों पर क्यों लागू हुआ ? उत्तर-भारत के नागों को 'द्रविड़' नाम से संबोधित करने की आवश्यकता जाती रही थी; क्योंकि वे 'द्रविड़' भाषा बोलना भूल चुके थे। लेकिन जहाँ तक दक्षिण के नागों की बात है, उन्हें 'द्रविड़' कहने का औचित्य दो कारणों से बना रहा। एक तो क्योंकि वह 'द्रविड़' भाषा से चिपटे रहे। दूसरे उत्तर के नागों के उसे छोड़ देने के बाद केवल वे ही ऐसे लोग रह गये थे, जो 'द्रविड़' भाषायें बोलते थे। यही वास्तविक कारण है कि दक्षिण के लोग 'द्रविड़' क्यों कहलाये।

दक्षिण के लोगों के लिये 'द्रविड़' शब्द का विशेष प्रयोग होने से यह बात ओझल नहीं होनी चाहिये कि 'नाग' और 'द्रविड़' एक ही और वही लोग हैं। वे एक ही जन-समुदाय के दो भिन्न नाम हैं। नाग उनका जाति-गत संस्कृति-गत नाम है, और 'द्रविड़' भाषा—गत।

इस प्रकार 'दास' वे ही हैं जो नाग हैं, और नाग वे ही हैं जो 'द्रविड़' हैं। दूसरे शब्दों में हम भारत की 'नसलों' के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि अधिक-से-अधिक दो नसलें ही रही हैं—आर्य और नाग। स्पष्ट ही है कि श्री राइस का मत निराधार सिद्ध होता है। यह मत भारत में तीन नसलों को स्वीकार करता है, जबकि वास्तव में दो ही नसलें रही हैं।

(२)

यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि 'द्रविड़ों' के आगमन से पूर्व एक तीसरी आदिवासी जाति भारत में रहती थी, तो क्या यह कहा जा सकता है कि ये द्रविड़-पूर्व आदि-वासी वर्तमान 'अछूतों' के पूर्वज थे? सत्य बात का पता लगाने के लिये हमारे पास दो कसौटियाँ हैं—एक नृतत्व-शास्त्र (Anthropometric) की और (Eth-nological) दूसरी 'नसल' की दृष्टि में।

भारतीय लोगों के बारे में नृतत्व-शास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर प्रो० घुरे ने अपने 'भारत में जाति और नसल' नामक ग्रन्थ में कुछ ध्यान आकर्षित करने वाली बातें कही हैं। उसी में से एक उद्धरण है :—

"युक्त प्रान्त के ब्राह्मण को प्राचीन आर्यों का एक नमूना प्रतिनिधि मान कर हम उसी से तुलना करना आरम्भ करते हैं। यदि हम नासिका के मापदंड की ओर ध्यान दें, तो ऐसा मालूम होता है कि युक्तप्रान्त के खत्री को छोड़कर वह पंजाब के चूहड़े * और खत्री की अपेक्षा छोटा पड़ता है। चूहड़े और खत्री के नासिका-माप का भेद युक्तप्रान्त के ब्राह्मण और पंजाब के चूहड़े के भेद से कुछ ही कम है। इसका अर्थ हुआ कि युक्त-प्रान्त का ब्राह्मण शारीरिक दृष्टि से अपने प्रान्त के खत्री की बहुत ऊँची जाति के अतिरिक्त शेष सभी जातियों की अपेक्षा पंजाब के चूहड़े और खत्री के अधिक समीप है। संयुक्त प्रान्त के ब्राह्मण और पंजाब के चूहड़े का सामीप्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है यदि हम संयुक्त प्रान्त के ब्राह्मणों तथा अन्य प्रदेशों के ब्राह्मणों के नासिका-मापों पर विचार करें। संयुक्त प्रान्त के ब्राह्मण और बिहार के ब्राह्मण का माप आर्य संस्कृति के प्रचार के हिसाब से सोचा जाय तो शायद बहुत समान होना चाहिये। किन्तु उसमें इतना ही भेद है, जितना संयुक्त-प्रान्त के ब्राह्मण और पंजाब के चूहड़े में। ऐतिहासिक आधार पर हम समझते हैं कि बिहार को संयुक्त-प्रान्त के आस-पास होना

* पंजाब की एक अछूत जाति।

चाहिये। किन्तु अनुक्रमणिका की ओर देखने से पता लगता है कि कुर्मी ब्राह्मण के समीप है, और चमार तथा डोम बहुत दूर हैं। लेकिन यहाँ चमार ब्राह्मण से उतना दूर नहीं है। जितना संयुक्त प्रान्त का चमार संयुक्त-प्रान्त के ब्राह्मण से। बंगाल की अनुक्रमणिका देखने से पता लगता है। कि सामाजिक सीढ़ी के निचले छठे दर्जे पर जो चाण्डाल है, जिसका स्पर्श-मात्र अपवित्र करता है, उसमें और ब्राह्मण में बहुत अन्तर नहीं है। कायस्थ, जो दूसरे दर्जे पर हैं, उनसे नाम-मात्र का भेद है। बम्बई में देशस्थ ब्राह्मण जितना चितपावन-ब्राह्मण के समीप है उतना ही सोन-कोली—एक मछुआ जाति—के। मराठा प्रदेश की अछूत जाति महारों का कुवी नामक किसान जाति के साथ २ दूसरा नम्बर है। उसके बाद आते हैं, शेनवी ब्राह्मण, नेगर ब्राह्मण, और ऊँची जाति वाले मराठे। यह परिणाम कुछ पुराने हैं। सामान्य तौर पर कहा जाय, तो इसका यही मतलब है कि सामाजिक ऊँच-नीच और शारीरिक भेद में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं।

अन्त में हम मद्रास को लेते हैं। यहाँ हमें भिन्न-भिन्न भाषा-गत-प्रदेशों को पृथक् २ लेना चाहिये क्योंकि भिन्न २ प्रदेशों में सामाजिक ऊँच-नीच का स्तर भिन्न २ है। श्री रिज़ले और ई० थरस्टन ने जातियों के क्रम का जो औसत निकाला है, वह इस प्रकार है—

कपु, Salo Malla, Golla, Madiga, Fogata और Kamati.

उनके सामाजिक दर्जे के अनुसार उनका क्रम इस प्रकार होगा :—

ब्राह्मण Kamati, Golla, Kapu and ollhors and sale, Fagota and others.

Mala madiga का दर्जा सब से नीचा है क्योंकि वे तेलुगु-प्रदेश के अन्त्यज हैं। कन्नड़ प्रदेश में नासिका-माप के अनुसार यह क्रम है—

कन्नड़ स्मार्त, ब्राह्मण, बन्त, बिल्लिव, मन्दय, ब्राह्मण, वक्कलिग, गनिग लिंग बनजिग।

Panehala Kurha, Holeya, देशस्थ ब्राह्मण, तोरेय्य and Bedar.

सामाजिक ऊँच-नीच के हिसाब से जातियों का क्रम इस प्रकार है—

ब्राह्मण, बंत, वक्कलिग, तोरेय्य आदि, Kuruba, and Ganiga Badega and, Krumba and Solaga, Billiva, Beda Holeya.

✓ इस तुलना का महत्व उस समय और भी बढ़ जाता है; जब हम देखते हैं कि कन्नड़ के अछूत का नासिका-माप ७५.१ है और ऊँचे से ऊँचे ब्राह्मण का ७१.५, और जंगल के क्रुम्ब तथा सोलग का (जो हिन्दू-रंग चढ़ने पर जो स्थान उन्हें मिला, उस पर स्थित हैं) नासिका-माप ८६.१ तथा ८५.१ है।

अपने नासिका-माप के हिसाब से तमिल जातियों का क्रम इस प्रकार है—

अम्बत्तन, Vellai, Ediayan, Agamudaiyan, तमिल ब्राह्मण, Palli, Malaiyali, Shanan and Parayan. नमूने की चार मलयालम जातियों के नासिका-क्रम इस प्रकार हैं—तियन ७५, नम्बुदिर ७५.५, नय्यर ७६.७, चरुमन ७७.२। इनका सामाजिक ऊँच-नीच का स्तर इस प्रकार है—

नम्बुदरि, नय्यर, तियन, चरुमन। ट्रावनकोर की जंगली जाति कानिकर का नासिका-माप ८४६ है। इस प्रकार चरुमन (एक अछूत) कनिकर की अपेक्षा ब्राह्मण की नसल का है।

✓ उक्त उद्धरण में, जो दूसरी जातियों के बारे में कहा गया है, यदि उसे छोड़ दें और केवल अछूतों के बारे में जो कुछ कहा गया है उसी की ओर ध्यान दें तो यह स्पष्ट है कि पंजाब के चूहड़े के नासिका-माप वही है जो युक्त-प्रांत के ब्राह्मण का, बिहार के चमार का नासिका-माप बिहार के ब्राह्मण से बहुत भिन्न नहीं है; कन्नड़ के होलेय्य (अछूत) का नासिका-माप कन्नड़ के ब्राह्मण से कहीं अधिक ऊँचा है और चेरुमन (तमिल के पेरिया से भी निचले दर्जे का अ-ब्राह्मण) का नासिका-माप उसी नसल का जिस नसल का तमिल-नाड के ब्राह्मण का। यदि किसी जाति की नसल निश्चित करने के लिये नृवंश-तत्व शास्त्र एक विश्वसनीय विज्ञान है, तो, हिन्दू समाज पर इस शास्त्र के लागू करने के जो परिणाम हैं, उनसे यह बात असिद्ध होती

है कि 'अछूत' 'आर्यों' और 'द्रविड़ों' से भिन्न 'नसल' के हैं। इन नासिका-नापों से यह बात पक्की तरह सिद्ध होती है कि ब्राह्मण और अछूत एक ही नसल के हैं। इससे यही परिणाम निकलता है कि यदि ब्राह्मण आर्य हैं तो अछूत भी आर्य हैं, यदि ब्राह्मण 'द्रविड़' हैं तो अछूत भी द्रविड़ हैं, यदि ब्राह्मण नाग हैं तो अछूत भी नाग हैं। इस अवस्था में श्री राइस का सिद्धान्त निराधार सिद्ध होता है।

(३)

नसल के अछूतपन का आधार होने का सिद्धान्त नृवंश-तत्व शास्त्र के विरुद्ध तो पड़ता ही है; उसे हमारी उस जानकारी से भी किसी तरह का सहारा नहीं मिलता, जो हमें भारत की नसलों के बारे में है। यह बात भली प्रकार ज्ञात है कि भारत के लोग किसी समय 'दलों' के हिसाब से संगठित थे, और यद्यपि अब 'दलों' ने 'जातों' का रूप ले लिया है, तो भी 'दलों' का गठन अभी भी सुरक्षित है। हर 'दल' 'टोलियों' में बँटा हुआ था और 'टोलियाँ' परिवारों के समूहों से बनी हुई थी। हर परिवार समूह का अपना एक चिन्ह होता था, चाहे कोई जानदार वस्तु हो, चाहे बे-जान। जिनका परस्पर एक ही समान चिन्ह होता था वह बाह्य-विवाह-आदेश-समूह के रूप में संगठित हो जाते थे जिन्हें हम गोत्र या कुल कहते हैं। जिन परिवारों का एक ही गोत्र होता था, उन्हें परस्पर विवाह नहीं करने दिया जाता था, क्योंकि यह माना जाता था कि वे एक ही पूर्वज के वंशज हैं और उनकी नसों में एक ही रक्त दौड़ रहा है। इस बात का ध्यान रख कर यदि भिन्न-भिन्न जातों और जातियों के चिन्हों का अध्ययन किया जाय तो वह नसल के निर्णय करने में नासिका-माप जितनी ही अच्छी कसौटी का काम दे सकता है।

दुर्भाग्य से इन चिन्हों और भिन्न-भिन्न जातियों में उनके विभाग की ओर समाज-शास्त्र के विद्यार्थियों ने एकदम ध्यान ही नहीं दिया। इस लापरवाही का मुख्य कारण जन-गणना करने वाले कमिश्नरों का फैलाया हुआ यह प्रचलित विचार है कि हिन्दू सामाजिक पद्धति की वास्तविक इकाई

और हिन्दू समाज का मूलाधार 'उपजाति' है, जिसका नियम है कि उस उपजाति से बाहर किसी से विवाह न किया जाय। इससे बढ़कर गलती नहीं हो सकती। हिन्दू समाज की इकाई 'उपजाति' नहीं है, किन्तु बाह्य-विवाहादेश के नियम के आधार पर बना हुआ परिवार है। इस अर्थ में हिन्दू परिवार के दलगत संगठन हैं, वह उपजाति की तरह का सामाजिक संगठन नहीं। हिन्दू परिवार में विवाह के अवसर पर कुल और गोत्र के विचार को ही प्रधान महत्व दिया जाता है, 'जाति' और 'उपजाति' का विचार गौण स्थान लेता है। हिन्दू समाज के कुल और गोत्र का वही दर्जा है, जो प्रारम्भिक समाज के दल-गत चिन्हों का। इससे प्रगट होता है कि हिन्दू समाज अपने संगठन की दृष्टि से अभी भी दल-गत ही है। परिवार उसका आधार है। उसे बाह्य-विवाहादेश का पालन करना होता है। 'जाति' और 'उपजाति' सामाजिक संगठन हैं, जो कि दल-गत संगठन पर ऊपर से लादे गये हैं। वे जिस बाह्य-विवाहादेश के नियम को लागू करते हैं उससे दल-गत संगठन के कुल और गोत्र पर आधारित बाह्य-विवाह-निषेध के नियम का निषेध नहीं होता।

इस बात को स्वीकार कर लेने का कि 'उपजाति' की अपेक्षा 'परिवार' कहीं अधिक महत्व का है, महत्व स्पष्ट है। इससे हिन्दू परिवारों में प्रचलित कुल और गोत्रों के नामों का अध्ययन होगा। इस प्रकार के अध्ययन से भारत के लोगों की नसल-गत बनावट के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलेगी। यदि भिन्न-भिन्न जातों और जातियों में एक ही कुल और गोत्र मिल जाय तो यह कहना सम्भव होगा कि यद्यपि सामाजिक दृष्टि से जातें भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु नसल के हिसाब से एक ही हैं। इस प्रकार के दो अध्ययन हुए हैं। एक महाराष्ट्र में श्री रिसले द्वारा और दूसरा पंजाब में हरोज द्वारा। दोनों अध्ययनों का जो परिणाम हुआ है उससे इस सिद्धान्त का एकदम खण्डन हो जाता है कि अछूत आर्यों अथवा द्रविड़ों से भिन्न नसल के हैं। महाराष्ट्र की मुख्य आबादी मराठों की है। महार महाराष्ट्र के अछूत हैं। उन दोनों के नसली अध्ययन से पता चलता है कि दोनों एक ही कुल के हैं। वास्तव में एकरूपता इतनी अधिक है कि मराठों में शायद ही

कोई एक भी ऐसा कुल हो जो महारों में न हो और महारों में भी शायद ही कोई ऐसा कुल हो जो मराठों में न हो। इसी प्रकार पंजाब में एक बड़ी जन-संख्या जाटों की है। मजहबी सिक्ख 'अछूत' गिने जाते हैं। उनमें अधिकांश चमार हैं। नसली-खोज से प्रकट होता है कि दोनों के गोत्र समान हैं। यह सब बातें सही होने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि अछूत भिन्न 'नसल' के हैं। जैसा कि मैंने कहा है यदि इन चिन्हों, कुलों तथा गोत्रों का कुछ भी अर्थ है तो इतना अर्थ तो होना ही चाहिये कि जिनका एक ही चिन्ह है, वे 'सम्बन्धी' होंगे। यदि वे एक ही रक्त के रहे तो वे भिन्न नसल के नहीं हो सकते।

इसलिये अछूतपन के नसली आधार का सिद्धांत त्याज्य है।

अछूतपन का आधार—पेशे

अब हम इस बात पर विचार कर सकते हैं कि क्या पेशे अछूतपन का आधार हैं ? श्री राइस के अनुसार 'अछूतपन' का मूल्य उनके गन्दे और घृणित पेशों में है। यह मत कुछ ठीक-सा जँचता है। लेकिन इसे अछूतपन की उत्पत्ति की सच्ची व्याख्या स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। अछूत जिन गन्दे और घृणित पेशों को करते हैं वे सभी मानव-समाजों में समान हैं। हर समाज में ऐसे लोग हैं जो इन पेशों को करते हैं। संसार के दूसरे देशों में ऐसे लोगों के साथ "अछूतपन" का व्यवहार क्यों नहीं हुआ ? दूसरा प्रश्न है कि क्या द्रविड़ लोगों को इन पेशों से अथवा ये पेशे करने वालों से घृणा थी ? इस विषय में हमारे पास किसी प्रकार की कोई साक्षी नहीं। लेकिन आर्यों के बारे में हमारे पास साक्षी है। इस साक्षी से यही प्रमाणित होता है कि आर्य भी दूसरे लोगों की तरह के थे और उनकी "पवित्रता" तथा "अपवित्रता" की कल्पना दूसरे प्राचीन लोगों से भिन्न न थी। नारद-स्मृति के इस एक उद्धरण पर विचार करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों को गन्दे पेशे करने में किसी प्रकार का कोई एतराज न था। पाँचवें परिच्छेद में नारद ने सेवा-धर्म के उल्लंघन का विचार किया है। उस परिच्छेद में ये श्लोक आये हैं :—

※ १. ऋषियों ने धर्मानुसार पाँच प्रकार के सेवक बताये हैं। इनमें चार प्रकार के सेवक हैं; और पाँचवें दास हैं जिनके फिर पन्द्रह प्रकार हैं।

※ १. शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः।
चतुर्विधाः कर्मकरास्तेषां दासाः त्रिपञ्चकाः॥

२. एक विद्यार्थी, एक काम सीखने वाला, एक वेतन भोगी नौकर, तथा एक अधिकारी। १

३. ऋषियों ने घोषणा की है कि पराश्रित होना तो सभी के लिए समान है, किन्तु उनकी अपनी पृथक् स्थिति और आय उनकी अपनी जाति और पेशे पर निर्भर करती है। २

४. यह बात जान लेने की है कि पेशे दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध और गन्दे, जो गन्दे पेशे हैं उन्हें दास करते हैं, जो शुद्ध पेशे हैं उन्हें शूद्र (कर्मकर)। ३

५. दरवाजे, पाखाने, सड़क तथा कूड़ा फेंकने की जगह पर झाड़ू लगाना; शरीर के गुह्य अङ्गों का मर्दन, उच्छिष्ट भोजन तथा मल-मूत्र को इकट्ठा कर फेंकना। ४

६. और अन्त में जब स्वामी चाहे तब उसके अङ्गों की मालिश करना ये काम गन्दे माने जाने चाहियें। इनके अतिरिक्त शेष सभी काम शुद्ध हैं। ५

२५. इस प्रकार शुद्ध काम करने वाले चार प्रकार के कर्मचारियों की

१. शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत्।
एते कर्मकरा ज्ञेयाः दासास्तु गृहजादयः॥

२. सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिणः।
जातिकर्मकृतस्तूक्तो विशेषो वृत्तिरेव च॥

४. कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च।
अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम्॥

५. गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम्।
गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम्॥

६. इच्छतः स्वामिनश्चाङ्गैरुपस्थानमथान्ततः,
अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम्॥

२५. शुभकर्मकराश्चैते चत्वारः समुदाहृताः।
जघन्यकर्मभाजस्तु शेषा दासास्त्रिपञ्चकाः॥

२६. गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः;

गिनती करा दी गई है। दूसरे जो गन्दा काम करते हैं दास हैं और वे पंद्रह प्रकार के हैं।

यह स्पष्ट है कि गन्दा काम करने वाले दास थे और झाड़ू लगाना गन्दे काम में शामिल था। जो प्रश्न पैदा होता है वह यह है कि ये दास कौन थे ? क्या वे आर्य थे अथवा अनार्य ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्यों में दास-प्रथा थी। एक आर्य दूसरे आर्य का दास हो सकता था। चाहे आर्य किसी भी वर्ण का हो वह 'दास' हो सकता था। एक क्षत्रिय 'दास' हो सकता था। एक वैश्य भी हो सकता था। एक ब्राह्मण भी दास हो सकने की संभावना से सर्वथा मुक्त न था। जब देश में चातुर्वर्ण्य एक कानून की तरह हुआ तो दास-प्रथा में कुछ परिवर्तन आया। नारदस्मृति के निम्नलिखित उद्धरणों से उस परिवर्तन का रूप स्पष्ट हो जाता है—

"३९. चारों वर्णों के प्रतिलोम क्रम में दास-प्रथा के लिए स्थान नहीं। यदि आदमी अपने वर्ण-धर्म का पालन न करे तो वह इस नियम का अपवाद है। उस अवस्था में दासत्व पत्नी की स्थिति के समान है।"

❀ याज्ञवल्क्य का भी कथन है—

"दास-प्रथा अनुलोम-क्रम से है। प्रतिलोम-क्रम से नहीं।"

याज्ञवल्क्यस्मृति पर विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा नाम की जो टीका है उसमें इसकी व्याख्या इस तरह की गई है—

अनाकालभृतस्तद्वद्दाहितः स्वामिना च यः ॥

२७. मोक्षितो महतश्चर्णात् युद्धप्राप्तः पणेजितः ।
तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ।

२८. भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वड़वाहृतः, (गृहदासी) ।
विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः ॥

❀ 'वर्णानामानुलोम्येन दास्यं तु प्रतिलोमतः ।'
याज्ञवल्क्यस्मृति (व्यवहाराध्याय, १४—१८३)

*"ब्राह्मणों और शेष वर्णों में दास-प्रथा अनुलोम क्रम से रहेगी। क्षत्रिय और शेष सभी ब्राह्मण के 'दास' हो सकते हैं। वैश्य और शूद्र क्षत्रिय के 'दास' हो सकते हैं। शूद्र वैश्य का 'दास' हो सकता है—ये दास-प्रथा अनुलोम क्रम से ही लागू हो सकती है।"

यह परिवर्तन दास-प्रथा का पुनर्संगठन मात्र था और उस क्रमागत असमानता का आधार जो कि चातुर्वर्ण्य की 'आत्मा' है। इसे ठोस रूप में व्यक्त करें तो इस नियम का मतलब यह हुआ कि एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य तथा एक शूद्र ब्राह्मण का 'दास' हो सकता था।

एक क्षत्रिय, एक वैश्य, तथा एक शूद्र क्षत्रिय का 'दास' हो सकता था। एक वैश्य और एक शूद्र वैश्य का 'दास' हो सकता था। किन्तु शूद्र का 'दास' केवल शूद्र ही हो सकता था। यह सब होने पर दास-प्रथा का कानून चालू ही था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कोई भी हो यदि वह 'दास' बनता तो उस पर वह नियम लागू ही होता।

दासों के लिए जो कर्तव्य निश्चित थे, उनकी ओर ध्यान दें तो यह परिवर्तन किसी तरह का भी परिवर्तन नहीं है। उसका अब भी यही मतलब हुआ कि यदि एक ब्राह्मण 'दास' बने, एक क्षत्रिय 'दास' बने, एक वैश्य 'दास' बने अथवा एक शूद्र 'दास' बने तो उसे झाड़ू लगाने का काम करना ही होगा। हाँ, एक ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के घर में झाड़ू नहीं लगायेगा। किन्तु वह एक ब्राह्मण के घर में भंगी का काम करेगा। उसी प्रकार एक क्षत्रिय एक ब्राह्मण और क्षत्रिय के घर में भंगी

---

*'ब्राह्मणादीनां वर्णानामानुलोम्येन दास्यम्। ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयः। क्षत्रियस्य वैश्यशूद्रौ। वैश्यस्य शूद्र इत्येवमानुलोम्येन दासभावो भवति न प्रातिलोम्येन।'

(उक्त श्लोक पर मिताक्षरा)

'वर्णानां प्रातिलोम्येन दासत्वं न विधीयते,
स्वधर्मत्यागिनोऽन्यत्र दारवद्दासता मता॥'

(नारद-स्मृति)

का काम करेगा। केवल वह एक वैश्य तथा शूद्र के घर में नहीं करेगा। एक वैश्य एक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के घर में भंगी का काम कर देगा। वह एक शूद्र के घर में नहीं करेगा। इसलिये यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो निश्चय से आर्य हैं, गन्दे से गन्दा भंगी का काम करते रहते हैं। यदि भंगी का काम एक आर्य के लिये घृणित कार्य नहीं था, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि गन्दे पेशों को करना अछूतपन का कारण है ? इसलिये यह मत कि गन्दे पेशे में लगना अछूतपन का कारण है, निराधार सिद्ध होता है।

चौथा भाग

अछूतपन की उत्पत्ति के नये सिद्धान्त

नौ

अछूतपन का मूल—बौद्ध धर्म के प्रति घृणा?

(१)

१८७० से आगे प्रति दस वर्ष पर जन-गणना-कमिश्नर द्वारा जन-गणना की जो रिपोर्ट प्रकाशित होती आरही है उसमें भारत के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के बारे में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध न होने वाली अमूल्य जानकारी पाई जाती है। १९१० से पहले जन-गणना कमिश्नर का एक लेखा रहता था—धर्मानुसार जन-संख्या। इस लेखे में (१) मुस्लिम, (२) हिन्दू तथा (३) ईसाई आदि जन-संख्या ही रहती थी। १९१० की जन-संख्या की रिपोर्ट में चालू परम्परा को छोड़ एक नई बात अपनाई गई। प्रथम बार हिन्दुओं का तीन भिन्न वर्गों में बटवारा किया गया—(१) हिन्दू, (२) प्रकृति-पूजक आदिम-वासी आदि, (३) अछूत। तब से यह नवीन वर्गीकरण चालू है।

(२)

पहले के जन-संख्या-कमिश्नरों की परम्परा को त्याग देने के सम्बन्ध में तीन प्रश्न पैदा होते हैं। (१) १९१० की जन-गणना के कमिश्नर ने यह नया वर्गीकरण क्यों किया? दूसरा यह कि इस वर्गीकरण का आधार क्या था? तीसरा यह कि वे कौन से कारण थे जिनसे कुछ ऐसे रीति-रिवाजों का विकास हुआ जिससे हिन्दुओं के तीन भिन्न वर्गों में बाँटे जाने की बात उचित लगती है।

पहले प्रश्न का उत्तर हमें उस मान-पत्र में मिलता है जो १९०९ में श्री आगाखान के नेतृत्व में मुसलमानों ने उस समय के वाइसराय लार्ड मिन्टो की सेवा में अर्पित किया। उसमें मुसलमानों ने अपने लिये, भारत-

सभा, कार्यकारिणी तथा सरकारी नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की याचना की थी। उस मान-पत्र में से निम्नलिखित अंश दिया जा रहा है—

"१९०९ में जो जन-गणना की गई उसके अनुसार भारत के मुसलमानों की संख्या ६ करोड़ २० लाख से ऊपर है, अर्थात् सरकार बहादुर की भारतीय प्रजा के चौथे और पाँचवें हिस्से के बीच में। यदि प्रकृति-पूजकों तथा दूसरे छोटे मोटे धर्मावलम्बियों के लेखे में आने वाली असभ्य जातियों और जो वास्तव में हिन्दू न होने पर भी 'हिन्दू' गिने जाते हैं, उन्हें बाहर कर दिया जाय तो 'हिंदू' संख्या की तुलना में मुसलमानों का अनुपात बहुत बढ़ जायगा। इसलिये हम यह निवेदन करना उचित समझते हैं कि प्रतिनिधित्व की किसी भी विस्तृत अथवा संकुचित पद्धति में एक ऐसी जाति (जिसकी जन-संख्या रूस को छोड़ कर किसी भी प्रथम दर्जे की यूरोपीय शक्ति की जन-संख्या से अधिक है) उचित तौर पर यह माँग कर सकती है कि उसे राज्य में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो।

"हम सरकार बहादुर की आज्ञा से एक कदम आगे जाकर यह आग्रह करना चाहते हैं कि सीधे या टेढ़े किसी भी प्रकार के प्रतिनिधित्व में और अन्य सब बातों में, जिनका उनके पद और प्रभाव से सम्बन्ध हो, मुस्लिम जाति को जो पद मिले वह उनकी जन-संख्या के ही अनुरूप नहीं, किन्तु उनके राजकीय-महत्व तथा साम्राज्य की रक्षा में उनसे जो सहायता मिलती है उसके भी अनुरूप होना चाहिये। हमें यह भी आशा है कि इस विषय में सरकार इस बात की ओर भी ध्यान देगी कि सौ वर्ष से कुछ ही अधिक समय पहले भारत में मुसलमानों की क्या स्थिति रही है और कि उसकी याद उनके दिलों से स्वाभाविक तौर पर मिट नहीं गई है।"

जिन शब्दों को मोटे अक्षरों में छापा गया है, उनका विशेष अर्थ है। ये शब्द मान-पत्र में यही बात सुझाने के लिये दिये गये हैं कि जब हिंदुओं के साथ मुसलमानों की तुलना की जाय तो हिन्दुओं की जन-संख्या में प्रकृति-पूजकों, आदिम-वासियों और अछूतों की जन-संख्या सम्मिलित न की जाय। १९१० में जन-गणना कमिश्नर ने हिन्दुओं के वर्गीकरण की जो यह

नई पद्धति स्वीकृत की उसका आधार मुसलमानों की यह बढ़ी हुई प्रतिनिधित्व की माँग ही है। जो हो हिन्दुओं ने इसका यही अर्थ लिया था।[1]

यद्यपि यह प्रश्न हो चुका है कि जन-गणना-कमिश्नर ने वर्गीकरण की यह नई पद्धति क्यों जारी की, तो भी यह उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना दूसरा प्रश्न। जो महत्व की जानकारी है वह यह है कि जन-गणना-कमिश्नर ने हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न वर्गों को किस आधार पर (१) जो शत-प्रति-शत हिन्दू थे, (२) जो नहीं थे, के वर्गीकरण में बांटा।

जन-गणना कमिश्नर ने इस वर्गीकरण का जो आधार बनाया वह गश्ती-पत्र में दिया गया है। उसमें उसने दोनों वर्गों में बांटने के लिये खास-खास कसौटियाँ निश्चित की हैं। जो शत-प्रति-शत हिन्दू नहीं, ऐसी जातों और जातियों के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) ब्राह्मणों की प्रधानता नहीं मानते।

(२) किसी ब्राह्मण अथवा अन्य किसी माने हुए हिंदू गुरु से मन्त्र नहीं लेते।

(३) वेदों को प्रमाण नहीं मानते।

(४) हिन्दू देवताओं को नहीं पूजते।

(५) अच्छे ब्राह्मण उनका पौरोहित्य नहीं करते।

(६) कोई ब्राह्मण पुरोहित नहीं रखते।

(७) हिन्दू मन्दिरों के भीतर नहीं जा सकते।

(८) स्पर्श अथवा निश्चित सीमा के भीतर आ जाने से "अपवित्रता" का कारण होते हैं।

(९) अपने मुर्दों को गाड़ते हैं।

(१०) गोमांस खाते हैं और गौ का किसी प्रकार से आदर नहीं करते।

इन दस कसौटियों में से कुछ ऐसी हैं जो हिन्दुओं को आदिवासियों से पृथक् करती हैं। शेष ऐसी हैं जो उन्हें "अछूतों" से पृथक् करती हैं।

१. देखो जन-गणना-कमिश्नर का वक्तव्य। प्रथम भाग पृष्ठ ११६।

"अछूतों" को हिन्दुओं से पृथक् करने वाली क० सं० २, ५, ६, ७ तथा १० हैं। हमारा सम्बन्ध विशेष-रूप से उन्हीं से है।

स्पष्टता के लिये अच्छा है कि हम इन कसौटियों को हिस्सों में बाँट लें और उनपर पृथक्-पृथक् विचार करें। इस परिच्छेद में केवल क० सं० २, ५, तथा ६ का विचार होगा। सं० २, ५, ६, कसौटियों के अन्तर्गत जो प्रश्न हैं, उनके जन-गणना-कमिश्नर को जो उत्तर मिले हैं उनसे प्रकट होता है कि (१) अछूत किसी ब्राह्मण से मंत्र नहीं लेते, (२) अच्छे ब्राह्मण अछूतों का पौरोहित्य नहीं करते और (३) अछूतों के अपने में से पैदा किए हुए निजी पुरोहित होते हैं। सभी प्रान्तों के जन-गणना-कमिश्नर इन बातों पर सहमत हैं।

√ तीनों प्रश्नों में तीसरा सबसे अधिक महत्व का है। दुर्भाग्य से जन-गणना-कमिश्नर ने इसको नहीं समझा, क्योंकि अपनी प्रश्नावली में वह मामले की तह तक नहीं जा सका। उसने यह जानने की कोशिश नहीं की कि अछूत ब्राह्मणों से मंत्र क्यों नहीं लेते ? ब्राह्मण अछूतों का पौरोहित्य क्यों नहीं करते ? अछूत अपना ही—पुरोहित रखना क्यों पसन्द करते हैं ? इन बातों की अपेक्षा इन बातों का 'क्यों' अधिक महत्व है ? इन बातों के 'क्यों' की खोज करनी ही चाहिए। क्योंकि अछूतपन की उत्पत्ति का मूल कारण इन्हीं में कहीं छिपा हुआ है।

√ इस खोज के कार्य में आगे बढ़ने से पहिले यह बात ध्यान दिला देने की है कि जन-गणना-कमिश्नर की प्रश्नावली एक-पक्षी थी। उससे प्रकट होता है कि ब्राह्मण अछूतों से घृणा करते थे। उसने इस बात को प्रकट नहीं किया कि अछूत भी ब्राह्मणों से घृणा करते हैं। लेकिन यह एक वास्तविकता है। लोगों को यह सोचने का कि ब्राह्मण अछूत से ऊँचा है, इतना अधिक अभ्यास हो गया है और अछूत भी अपने आपको उससे नीचा मानता है कि यदि लोगों को यह बताया जाय कि अछूत ब्राह्मण को एक अपवित्र आदमी मानते हैं तो उन्हें बड़ा ही आश्चर्य होगा। किन्तु जिन लेखकों ने अछूतों के सामाजिक रीति-रिवाजों को ध्यान से देखा है और

उनकी परीक्षा की है उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है। इस विषय में किसी भी तरह के सन्देह के निवारणार्थ उनके लेखों में से कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं।

श्री अब्बे दूब्याव का ध्यान इस ओर गया है। उनका कहना है :—

"आज भी गाँव में एक पैरियाह (अछूत) ब्राह्मणों की गली से नहीं गुजर सकता। यद्यपि शहरों में अब कोई उसे ब्राह्मण के घर के पास से गुजरने से नहीं रोकता अथवा नहीं रोक सकता। किन्तु दूसरी ओर एक पैरियाह किसी भी स्थिति में एक ब्राह्मण को अपनी झोंपड़ियों के बीच से नहीं गुजरने देगा। उनका पक्का विश्वास है कि यह उनके विनाश का कारण होगा।"

तंजौर जिले के गैजीटियर के सम्पादक श्री हेमिंग्ज़वे का कथन है :—

"ये जातें (तंजौर जिले की अछूत जातें) किसी ब्राह्मण के उनके मुहल्ले में प्रवेश करने का बड़ा विरोध करती हैं। उनका विश्वास है कि इससे उनकी बड़ी हानि होगी।"

मैसूर के हसन जिले के होले लोगों के बारे में लिखते हुए कैप्टन श्री जे. एस. एफ. मैकेन्जी लिखते हैं :—

"गाँव की सीमा के बाहर हर गांव की होलीगिरी है। पहिले के खेतिहर दास जो होलियर कहलाते थे उनके निवास-स्थान होने के कारण। मेरा विचार हुआ कि यह इसीलिये है कि वे गन्दी नसल के समझे जाते हैं, जिनके स्पर्श-मात्र से "अपवित्रता" पैदा होती है।"

सामान्य रूप से जो ब्राह्मण किसी होलियर के हाथ से कुछ भी ग्रहण करने से इन्कार करते हैं, इसका यही कारण बताते हैं। किन्तु तो भी ब्राह्मण इसे अपने लिये बड़े सौभाग्य की बात समझते हैं यदि वे बिना अपमानित हुए होलीगिरी में से गुजर जायें। होलियरों को इस पर बड़ी आपत्ति है। यदि एक ब्राह्मण उनके मुहल्लों में जबरदस्ती घुसे तो वे सारे के सारे इकट्ठे बाहर आकर उसे जुतिया देते हैं और पहिले जो कहा जाता

है कि उसे जान से भी मार डालते थे। दूसरी जातों के लोग दरवाजे तक आ सकते हैं किन्तु घर में नहीं घुस सकते। ऐसा होने से होलियर पर दुर्भाग्य बरस पड़ेगा। यदि कभी कोई किसी तरह से घर के अन्दर आ ही घुसे तो मालिक आगन्तुक का कपड़ा फाड़कर उसके एक कोने में नमक बाँध देगा और उसे बाहर निकाल देगा। इससे यह समझा जाता है कि सीमोल्लंघन करने वाले का सौभाग्य उलट जायगा और घर के मालिक पर किसी प्रकार की कोई विपत्ति नहीं आएगी।

/ इस विचित्रता की क्या व्याख्या है ? जो भी व्याख्या हो उसका उस अवस्था से मेल बैठना चाहिए जो कि आरम्भ में थी। अर्थात् उस समय जब कि अछूत अछूत न थे। केवल छितरे हुए आदमी थे। हमें यह प्रश्न करना चाहिये कि ब्राह्मणों ने इन छितरे हुए आदमियों के धार्मिक रीति-रिवाजों के अवसर पर पौरोहित्य करने से क्यों इन्कार किया ? क्या यह बात है कि ब्राह्मणों ने पौरोहित्य करने से इन्कार किया ? अथवा यह बात है कि इन छितरे हुए आदमिया ने ही ब्राह्मणों को निमंत्रित करने से इन्कार किया ? ब्राह्मणों ने छितरे हुए आदमियों को 'अपवित्र' क्यों माना ? इन छितरे हुए आदमियों ने ब्राह्मणों को अपवित्र क्यों माना ? इस परस्पर की घृणा का क्या कारण है ? /

इस परस्पर की घृणा की एक व्याख्या हो सकती है। वह यह कि ये छितरे हुए आदमी बौद्ध थे, इस लिए वे ब्राह्मणों का आदर नहीं करते थे, उन्हें पुरोहित नहीं बनाते थे और उन्हें अपवित्र समझते थे। दूसरी ओर ब्राह्मण भी छितरे हुए आदमियों को पसन्द नहीं करते थे; क्योंकि वे बौद्ध थे। वे उनके विरुद्ध घृणा का प्रचार करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि छितरे हुए आदमी अछूत समझे जाने लगे।

हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ये छितरे हुए आदमी बौद्ध थे। किन्तु किसी प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है जबकि उस समय अधिकांश हिन्दू बौद्ध ही थे। हम मान लेते हैं कि वे बौद्ध थे।

यह बात बिना प्रमाण के नहीं है कि हिन्दुओं के मन में बौद्धों के

विरुद्ध घृणा का भाव विद्यमान था और यह घृणा का भाव ब्राह्मणों का पैदा किया हुआ था।

✓नीलकंठ ने अपने 'प्रायश्चित्त मयूख' में मनु का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है :—

"यदि कोई आदमी किसी बौद्ध को, पाशुपत पुरुष को लोकायतक को, नास्तिक को अथवा किसी महापातकी को स्पर्श करेगा तो वह स्नान करने से ही शुद्ध हो सकेगा।"

अपरार्क ने अपनी स्मृति में भी इसी मत का प्रचार किया है। वृद्ध-हारित ने एक कदम आगे जाकर बौद्ध मंदिर में जाने को पाप माना है, जिससे मुक्त होने के लिए आदमी को स्नान करना चाहिए।

बुद्ध के अनुयायियों के विरुद्ध इस घृणा के भाव का कितना प्रचार हो गया था, यह संस्कृत नाटकों में देखा जा सकता है। इस दुर्भावना का सबसे अच्छा प्रमाण मृच्छकटिक में है। नाटक के सातवें प्रकरण में नायक चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय के साथ नगर के बाहर उद्यान में वसन्तसेना की प्रतीक्षा कर रहा है। वह नहीं आई। चारुदत्त उद्यान से चला जाना चाहता है, ज्यों ही वे विदा होते हैं वे समवाहक नाम के बौद्ध भिक्षु को देखते हैं। उसके दिखाई देने पर चारुदत्त कहता है :—

❀ "मित्र मैत्रेय, मैं वसन्तसेना से मिलने के लिए उत्सुक हूँ··· आओ हम चलें। (थोड़ा चलकर) ओह! यह तो असगुन हो गया, एक बौद्ध श्रमण हमारी ओर चला आ रहा है। (थोड़ा विचार कर) अच्छा उसे आने दो, हम इस दूसरे रास्ते से चले जायेंगे। (चले जाते हैं)"

आठवें प्रकरण में भिक्षु राजा के साले शकार के उद्यान में एक तालाब

मृच्छकटिक Act VII

❀ चारुदत्तः—सखे मैत्रेय! वसन्तसेनादर्शनोत्सुकोऽहं जनः······तदेहि गच्छावः। (परिक्रम्य) अये अभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्। (विचार्य) प्रविशत्वयमनेन पथा। वयमप्यनेनैव पथा गच्छावः। (इति निष्क्रान्तः)

पर कपड़े धोरहा है। चीत के साथ शक आता है और उसे देख कर मारने की धमकी देता है। उनके बीच का निम्नलिखित वार्तालाप विशेष महत्त्व का है।

* "शकार—ठहर, अरे दुष्ट श्रमण।

श्रमण—ओह ! यह राजा का साला है ! क्योंकि यह किसी श्रमण से रुष्ट हो गया है, इस लिए अब जो भी श्रमण मिलता है यह उसे पीटता है।

शकार—ठहर मैं तेरे सिर को ऐसे ही चूर-चूर कर डालूँगा जैसे किसी सराय में एक शलजम। (पीटता है)

विट—मित्र, एक श्रमण को, जिसने संसार त्याग कर काषाय पहिन रक्खा है, पीटना अच्छा नहीं।

श्रमण—उपासक प्रसन्न रहें।

शकार—मित्र, देख यह मुझे गाली दे रहा है।

विट—यह क्या कह रहा है ?

शकार—यह मुझे उपासक कहता है। क्या मैं नाई हूँ ?

---

* मृच्छकटिक Act. VIII

शकारः – चिट्ठ ले दुट्ठशमणआ चिट्ठ।

भिक्षुः—आश्चर्यम्। अयं स राजश्यालसंस्थानक आगतः। एकेन भिक्षुणा ऽपराद्धे कृतेऽन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासिकां विद्ध्वाऽपवाहयति। तत् कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि। अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम्।

शकारः—तिष्ठ रे दुष्ट श्रमणक तिष्ठ। आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि। (इति ताडयति)

विटः—काणेलीमातः ! न युक्तं निर्वेदधृतकषायं भिक्षुं ताडयितुम्।.......

भिक्षुः—स्वागतम् प्रसीदतूपासकः।

शकारः—भाव, पश्य पश्य। आक्रोशति माम्।

विटः—किं ब्रवीति।

शकारः—उपासक इति मां भणति किमहं नापितः।

विट—ओह ! यह तो वास्तव में तुम्हें बुद्ध का उपासक बना तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है ।

शकार—यह यहाँ क्यों आया है ?

श्रमण—इन वस्त्रों को धोने के लिए ।

शकार—ओह ! अरे दुष्ट श्रमण मैं स्वयं इस तालाब में स्नान नहीं करता । मैं तुझे एक प्रहार से मार डालूँगा ।"

काफी मार-पीट के बाद श्रमण को जाने दिया जाता है । यहाँ हिन्दुओं की भीड़ के बीच एक बौद्ध श्रमण दिखाई देता है । उससे दूर-दूर रहा जाता है और बचा जाता है । उसके विरुद्ध घृणा का भाव इतना जबरदस्त है कि जिस सड़क पर वह चलता है लोग उस सड़क से भी बचते हैं । घृणा का भाव इतना जोरदार है कि बौद्ध का प्रवेश किसी हिन्दू को बाहर निकालने के लिए पर्याप्त है । बौद्ध श्रमण का दर्जा ब्राह्मण के समान है । ब्राह्मण मृत्यु-दण्ड से मुक्त है । उसे शारीरिक दण्ड भी नहीं दिया जा सकता किन्तु एक बौद्ध श्रमण मारा जाता है, बिना किसी पछतावे के, बिना किसी आत्मग्लानि के, मानो इसमें कोई हर्ज ही नहीं ।

यदि हम यह स्वीकार कर लें कि ये छितरे हुए आदमी बौद्ध थे और ब्राह्मण धर्म के बौद्ध धर्म पर हावी हो जाने पर दूसरों की तरह इन्होंने आसानी से बौद्ध धर्म छोड़ कर ब्राह्मण धर्म ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, तो हमें दोनों प्रश्नों का एक समाधान मिल जाता है । इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है कि अछूत ब्राह्मणों को अपशगुन क्यों मानते हैं, वे उन्हें पुरोहित क्यों नहीं बनाते और अपने मुहल्लों तक में क्यों नहीं आने देते ? इससे इस बात की भी व्याख्या हो जाती है कि ये

विटः—बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तौति ।

शकारः—भाव, किमर्थमेष इहागतः ?

भिक्षुः—इदं चीवरं प्रक्षालयितुम् ।

शकारः—अरे दुष्टश्रमणक !……अहमपि प्रवरपुरुषो मनुष्यको न स्नामि ……तत्त्वामेकप्रहारिकं करोमि ।

छितरे हुए आदमी क्यों अछूत समझे गए ? ये छितरे हुए आदमी ब्राह्मणों से घृणा करते थे, क्योंकि ब्राह्मण बौद्ध धर्म के शत्रु थे और ब्राह्मणों ने इन छितरे हुए आदमियों को अछूत बनाया। क्योंकि ये बौद्ध धर्म को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। इस तर्क से इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि अछूतपन के मूल कारणों में से एक कारण वह घृणा है जो ब्राह्मणों ने बौद्धों के प्रति पैदा की।

क्या बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के बीच की घृणा ही इन छितरे हुए आदमियों के अछूत बन जाने का एक मात्र कारण हो सकती है ? स्पष्ट है कि नहीं ? ब्राह्मणों ने बौद्धों के विरुद्ध समान रूप से घृणा का प्रचार किया था, इन छितरे हुए आदमियों के विरुद्ध कुछ विशेष रूप से नहीं। क्योंकि "अछूतपन" केवल इन छितरे हुए आदमियों से ही जा चिपटा, इस लिए यह स्पष्ट है कि इसके अतिरिक्त कुछ और भी परिस्थिति होगी, जो कि अछूतपन के इन छितरे हुए आदमियों के सिर मढ़े जाने का कारण बनी। वह परिस्थिति क्या रही होगी ? इससे आगे हम इसी दिशा में कुछ निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे।

अछूतपन का मूल—गोमांस खाना

अब हम जन-गणना कमिश्नर के परिपत्र में दी गई दसवीं कसौटी को लेते हैं। इस कसौटी की चर्चा एक पहले परिच्छेद में आ ही चुकी है, कसौटी गो-मांस खाने के बारे में है।

जन-गणना के परिणामों से ज्ञात होता है कि जो जातियाँ आजकल "अछूत" गिनी जाती हैं, उनके भोजन का एक मुख्य अंग मृत गऊ का मांस है। कोई "हिन्दू" जाति चाहे कितनी ही नीच क्यों न हो, गो-मांस का स्पर्श नहीं करेगी। दूसरी ओर कोई जाति नहीं है, जो वास्तव में "अछूत" है और जिसको मृत गौ से कुछ लेना-देना नहीं। कुछ उसका मांस खाते हैं, कुछ उसका चमड़ा उतारते हैं, कुछ उसके चमड़े तथा हड्डी की चीजें बनाते हैं।

जन-गणना के कमिश्नर की जाँच-पड़ताल से यह प्रमाणित हो जाता है कि अछूत गो-मांस खाते हैं। तो प्रश्न है कि क्या गोमांसाहार का अछूत-पन की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध है? अथवा अछूतों के आर्थिक जीवन में यह एक सामान्य घटना है? क्या हम कह सकते हैं कि गो-मांस खाने के कारण छितरे हुए आदमी "अछूत" बनाये गये। इस प्रश्न के उत्तर में निस्संकोच "हाँ" कहा जा सकता है। किसी भी और उत्तर का हमारी जान-कारी से मेल नहीं बैठता।

पहली बात तो यह है कि एक यह चीज निश्चित है कि "अछूत" अथवा "अछूतों" की बड़ी बड़ी जातियाँ गो-मांस खाती हैं और जो गो-मांस खाने वाले हैं वे "अछूत" गिने जाते हैं। उनके अतिरिक्त कोई नहीं। अछूतपन और मृत गौ के उपयोग का सम्बन्ध इतना अधिक और इतने समीप का है कि इसे "अछूत-पन" का कारण मानने की बात लगभग

अकाट्य प्रतीत होती है। दूसरी ओर यदि कोई चीज अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् करने वाली है तो यह गोमांस आहार है। ऊपरी दृष्टि से भी यदि हिन्दुओं के निषिद्ध भोजन-सम्बन्धी नियमों का अध्ययन किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि भोजन के सम्बन्ध में दो निषेधाज्ञायें ऐसी हैं जिनसे विभाजक रेखा खिंच जाती है। एक निषेधाज्ञा तो मांस न खाने की है। इससे हिन्दुओं के दो विभाग हो जाते हैं—शाकाहारी और मांसाहारी। दूसरी निषेधाज्ञा गो-मांस खाने के विरुद्ध है। इससे हिन्दुओं के दो विभाग हो जाते हैं—वे जो गोमांस खा लेते हैं तथा वे जो गोमांस नहीं खाते हैं। "अछूतपन" की दृष्टि से पहली विभाजक-रेखा का कोई महत्व नहीं, किन्तु दूसरी का है। क्योंकि यह "छूतों" को "अछूतों" से सम्पूर्ण रूप से पृथक् खड़ा करके दिखाती है। "छूत" चाहे वे 'शाकाहारी' हों, चाहे मांसाहारी गो-मांस का निषेध करने में एक मत हैं। उनसे विरुद्ध "अछूत" हैं जो गो-मांस खा लेते हैं—बिना किसी अनुताप के और सामान्य अभ्यास से। ❀

इस सम्बन्ध में यह सुझाना कोई बहुत दूर की कौड़ी लाना नहीं है कि जिन्हें गो-मांसाहारसे अत्यन्त घृणा है, वे गो-मांसाहारियों को "अछूत" समझने लग जायें।

वास्तव में गो-मांसाहार के "अछूतपन" का प्रधान कारण होने के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कल्पना करने की कुछ भी आवश्यता नहीं। इस नये सिद्धांत का हिन्दू-शास्त्र ही समर्थन करते हैं। वेद-व्यास स्मृति में निम्नलिखित श्लोक हैं जो अन्त्यजों की श्रेणी में गिनी गई जातियों के नाम और उनके ऐसा होने का कारण बताते हैं—

❀ "अछूतों" पर "छूतों" की ओर से गो-मांस खाने का जो दोषारोपण किया जाता है, उससे प्रभावित होकर "अछूतों" ने गो-मांस खाना छोड़ने की बजाय एक नये दर्शन का आविष्कार किया है। उनका कहना है कि हम गोमांस को यों ही इधर उधर न फेंक कर उसे खा लेते हैं। यह हमारा गो-भक्ति का श्रेष्ठतर ढंग है।

"चर्मकार, भट्ट, भिल्ल, रजक (धोबी), पुष्कर, नट, व्रात, मेद, चाण्डाल, दास, सोवपाक, तथा कोलिक तथा वे दूसरे सब जो गो-मांस खाते हैं अन्त्यज कहलाते हैं।" [१२—१३]

सामान्यतः स्मृतिकार अपने मन्तव्यों के "क्यों ?" और "कैसे ?" के फेर में कभी नहीं पड़ते। लेकिन यह एक अपवाद है। क्योंकि यहाँ वेद-व्यास "अछूतपन" के कारण की व्याख्या कर रहे हैं इसमें "तथा वे दूसरे सब जो गो-मांस खाते हैं" शब्द-खण्ड बहुत महत्वपूर्ण है। इसका मतलब है कि स्मृतिकार इस बात को जानते थे कि "अछूतपन" का मूल-स्थान गो-मांसाहार में दिया है। वेद-व्यास की इस उक्ति के बाद किसी प्रकार के तर्क-वितर्क के लिये स्थान नहीं रहना चाहिये यह तो 'जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले' जैसी बात है। और विशेषता यह है कि यह व्याख्या बुद्धि-संगत भी है, क्योंकि जो कुछ हम जानते हैं उन बातों से इसका पूरा पूरा मेल बैठता है।

"अछूतपन" के कारण की इस नई-खोज में दो बातें हाथ लगी हैं। एक तो वह सामान्य घृणा का भाव है जो ब्राह्मणों ने बौद्धों के विरुद्ध फैला रखा था और दूसरी छितरे हुए आदमियों की गो-मांस खाते रहने की आदत है। जैसा पहले कहा गया है। केवल पहली बात छितरे हुए आदमियों पर "अछूतपन" का कलंक लगाने के लिये पर्याप्त नहीं समझी जा सकती। क्योंकि ब्राह्मणों ने बौद्धों के प्रति जो घृणा का भाव फैलाया था वह तो सामान्य रूप से सभी बौद्धों के विरुद्ध, कुछ केवल "छितरे हुए आदमियों" के विरुद्ध तो था नहीं। केवल "छितरे हुए आदमी" ही अछूत क्यों बने, इसका मुख्य कारण यही था कि वे बौद्ध तो थे ही, उसके साथ उन्होंने अपनी गो-मांस खाने की आदत भी नहीं छोड़ी थी। इससे ब्राह्मणों को अपनी नयी गो-भक्ति को उसकी चरम-सीमा तक पहुँचाने का अतिरिक्त अवसर मिल गया। इससे हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि छितरे हुए आदमी बौद्ध होने के कारण घृणा के पात्र बने और गो-मांसाहारी होने के कारण "अछूतपन" के।

गो-मांसाहार के "अछूतपन" का कारण होने के सिद्धांत को स्वीकार करने से अनेक प्रश्न पैदा होते हैं। समालोचक निश्चय से पूछेंगे—हिन्दुओं को गो-मांसाहार के विरुद्ध घृणा का क्या कारण है ? क्या हिन्दू सदैव से गो-मांसाहार के विरुद्ध रहे हैं ? यदि नहीं तो उनमें यह घृणा कैसे उत्पन्न हुई ? क्या अछूत आरम्भ से ही गो-मांस ग्रहण करते रहे हैं ? जिस समय हिन्दुओं ने गो-मांस ग्रहण करना छोड़ा तो उन्होंने भी उसी समय क्यों नहीं छोड़ दिया ? क्या "अछूत" सदैव से "अछूत" रहे हैं ? यदि एक ऐसा समय था जब "अछूत" गो-मांसाहारी होने के बावजूद "अछूत" नहीं थे, तो बाद में गो-मांसाहार "अछूतपन" का कारण कैसे बन गया ? यदि हिन्दू गो-मांस खाते रहे हैं तो उन्होंने उसे कब खाना छोड़ा ? यदि "अछूत-पन" हिन्दुओं के गो-मांसाहार के विरुद्ध घृणा की प्रतिच्छाया है, तो हिन्दुओं के गो-मांसाहार छोड़ने के कितने समय बाद "अछूत-पन" अस्तित्व में आया ? इन प्रश्नों का उत्तर देना ही होगा। बिना उत्तर दिये यह नया सिद्धांत बादलों से ढका रहेगा। इसे लोग 'सम्भव' मान सकते हैं किन्तु निर्णयात्मक स्वीकार न करेंगे। जब मैंने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है तो मुझे इन प्रश्नों का उत्तर भी देना ही होगा। मैं निम्नलिखित शीर्षकों में उत्तर देना चाहता हूँ—

(१) क्या हिन्दुओं ने कभी गो-मांस नहीं खाया ?

(२) हिन्दुओं ने गो-मांस-भक्षण क्यों छोड़ा ?

(३) ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बने ?

(४) गो-मांसाहार से "अछूतपन" की उत्पत्ति क्यों हुई ? और

(५) "अछूत-पन" की उत्पत्ति कब हुई ?

पाँचवाँ भाग

नये सिद्धान्त और कुछ प्रश्न

११ परिच्छेद — क्या हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया ?

१२ परिच्छेद — अ-ब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ दिया ?

१३ परिच्छेद — ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बन गये ?

१४ परिच्छेद — क्या गोमांसाहार ने "छितरे हुए आदमियों" को "अछूत" क्यों बना दिया ?

क्या हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया ?

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या कभी हिन्दुओं ने गोमांस खाया है। प्रत्येक 'छूत' हिन्दू–चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे अब्राह्मण हो यही उत्तर देगा —नहीं, कभी नहीं। एक तरह से उसका कहना ठीक है। दीर्घकाल से कभी किसी हिन्दू ने गोमांस नहीं खाया। यदि 'छूत' हिन्दू के इस उत्तर का यही भावार्थ है तो हमारा उससे कोई झगड़ा नहीं। लेकिन जब पढ़े-लिखे ब्राह्मण यह कहते हैं कि न केवल हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया, बल्कि वे गौ को सदा से पवित्र मानते रहे हैं और सदा से ही गो-हत्या के विरोधी रहे हैं तो उनके इस मत को स्वीकार करना कठिन हो जाता है।

इस मत के पक्ष में कि हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया, और वे सदा से गो-हत्या के विरोधी रहे हैं क्या प्रमाण हैं ?

ऋक् वेद में दो तरह के प्रमाण हैं जो आधार माने जाते हैं। एक प्रकार के प्रमाणों में गौ को 'अघ्न्य' कहा है 'अघ्न्य' का अर्थ है 'मारने योग्य नहीं।' इससे यह अर्थ लिया जाता है कि यह गो-हत्या के विरुद्ध निषेधाज्ञा है; और क्योंकि धर्म के मामले में वेद अन्तिम प्रमाण है, इसलिये यह कहा जाता है कि गोमांस खाने की तो बात ही क्या, आर्य गौ की हत्या ही नहीं कर सकते थे। दूसरे प्रकार के प्रमाणों में गौ को 'पवित्र' कहा गया है। इन मन्त्रों में गौ को रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की बहन और अमृत का केन्द्र-बिन्दु कहा गया है। ऋक् वेद में एक और उल्लेख है जहाँ गौ को देवी कहा गया है।

ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों के कुछ वाक्यों को भी आधार माना जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में दो स्थल ऐसे हैं। जिनका गो-हत्या और गो-मांसाहार से सम्बन्ध है। एक इस प्रकार है :—

"वह (अध्वर्यु) तब उसे मण्डप में प्रविष्ट कराता है। उसे गौ अथवा बैल का मांस नहीं खाना चाहिये, क्योंकि निस्सन्देह गौ और बैल पृथ्वी पर जितनी चीजें हैं उन सब का आधार हैं। देवताओं ने कहा है, 'निश्चय से गौ और बैल प्रत्येक वस्तु का आधार हैं, आओ हम दूसरी (पशु) योनियों की जो शक्ति है, वह गौ और बैल को ही दे दें।' इसीलिये गौ और बैल सब से अधिक खाते हैं। इसलिये यदि कोई किसी गौ या बैल का मांस खाता है तो वह सब कुछ खाता है, अथवा वह सबके अन्त को सबके विनाश को पहुँचता है।....इसलिये उसे गौ तथा बैल का मांस नहीं खाना चाहिये।"*

१, २, ३ तथा ६ में एक और स्थल है जहाँ नैतिक आधार पर पशु-यज्ञ का निषेध किया गया है।

एक इसी प्रकार का कथन आपस्तम्ब-धर्मसूत्र का भी है। जहाँ गो-मांसाहार पर एक सामान्य प्रतिबन्ध लगाया गया है।

इस मत के पक्ष में कि हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया, यही गवाही विद्यमान है। इस गवाही से हम क्या परिणाम निकाल सकते हैं ?

जहाँ तक ऋक् वेद की गवाही का सम्बन्ध है, हम उसे ठीक तौर पर न पढ़ने से और ठीक तौर पर न समझने से ही इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं। ऋक् वेद में गौ के लिये जो 'अघ्न्य' विशेषण आया है। उसका अर्थ यही है कि जो गौ दूध देती है, वह इसलिये मारे जाने के अयोग्य है। हाँ, यह बात तो सत्य है कि ऋक् वेद के समय में गौ के लिये आदर

---

* अथैनं शालां प्रपादयति। स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयाद्धेन्वनडुहौ वा इदं सर्व्वम्बिभृतस्ते देवा अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतो हन्त यदन्येषां वयसां वीर्यं तद्धेन्वनडुहयोर्दधामेति स यदन्येषां वयसां वीर्यमासीत्तद्धेन्वनडुहयोरदधुस्तस्माद्धेनुश्चैवानड्वांश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तस्तद्धैतत् सर्वाशमिव यो धेन्वनडुहयोरश्नीयादन्तगतिरिव तं हाद्भुतमभिजनितोर्जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकदिति पापी कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्।

शत० ब्रा०

था। किन्तु गौ के लिये ऐसी आदर और पूजा की भावना की आशा हिन्दी-आर्यों जैसी खेतिहर जाति से हो ही सकती है। गौ का यह उपयोग आर्यों को उसे भोजन के लिये मारने से नहीं रोकता था। वास्तव में गौ पवित्र मानी जाने के कारण भी उसकी हत्या होती थी। श्री काने का कहना है —

"ऐसा नहीं था कि वैदिक समय में गौ पवित्र नहीं थी। उसकी "पवित्रता" के ही कारण वाजसनेयि-संहिता में यह व्यवस्था दी गई है कि गो-मांस खाना चाहिए।"⊛

ऋक्-वेद-कालीन आर्य भोजन के लिये गो-हत्या करते थे और गो-मांस खाते थे, यह ऋक्-वेद से ही एकदम स्पष्ट है। ऋक्-वेद में इन्द्र का कथन है—वे एक के लिये १५-२० बैल पकाते हैं। ऋक्-वेद का ही कथन है कि अग्निदेवता के लिये घोड़ों, वृषभों, बैलों, बांझ गौओं तथा मेढ़ों की बलि दी जाती थी। ऋक्-वेद से यह भी स्पष्ट होता है कि गौ को एक खड्ग अथवा कुल्हाड़ी से मारा जाता था।

जहाँ तक शतपथ की गवाही का सम्बन्ध है, क्या वह निर्णयात्मक मानी जा सकती है? स्पष्ट ही है कि नहीं। दूसरे ब्राह्मणों में ऐसे पाठ हैं जो इससे भिन्न सम्मति देते हैं।

एक ही उदाहरण पर्य्याप्त होगा। तैत्तिरीय ब्राह्मणों में जिन काम्येष्टि यज्ञों का वर्णन है उनमें न केवल गौ और बैल की बलि देने की आज्ञा है, किन्तु यह भी स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार के गौ और बैल की किस देवता की बलि चढ़ानी चाहिये? इस प्रकार 'विष्णु' की बलि देनी हो तो एक बौना बैल चुनना चाहिये। वृत्र के नाशक 'इन्द्र' की बलि देनी हो तो ऐसा बैल चाहिये कि जिसके सींग लटकते हों और जिसके माथे पर टीका हो। 'पूषण' के लिये काली गौ, 'रुद्र' के लिये लाल गौ, और इसी प्रकार। तैत्तिरीय ब्राह्मण पंचशारदीय-सेवा नाम के एक यज्ञ का वर्णन करता है,

---

⊛ धर्म-शास्त्र विचार (मराठी)

जिसकी सबसे अधिक महत्त्व की बात यह थी कि उसमें पाँच वर्ष की आयु के सत्रह कूबहीन बौने बैल और उतने ही तीन-वर्ष की आयु के बौने बछड़े मारे जाते थे।

और आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के विरुद्ध निम्न-लिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं।

पहले तो उसी सूत्र में उसके विरुद्ध कथन मिलता है। सूत्र में लिखा है—

"गौ और बैल 'पवित्र' हैं। इस लिये उन्हें खाना चाहिये।"

दूसरी बात गृह्य-सूत्र में दी गई मधुपर्क बनाने की विधि है, आर्यों में विशेष अतिथियों के स्वागत की रीति एक निश्चित प्रथा बन गई थी। जो सर्वश्रेष्ठ चीज खिलाई जाती थी उसे मधुपर्क कहते थे। कई गृह्य-सूत्रों में मधुपर्क के बारे में विस्तृत सूचनायें हैं। गृह्य-सूत्रों के अनुसार छः जनों का अधिकार है कि उन्हें मधुपर्क दिया जाय—(१) ऋत्विज् अर्थात् यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण, (२) आचार्य्य, (३) दुलहा, (४) राजा, (५) स्नातक, अर्थात् गुरुकुल की शिक्षा-समाप्त विद्यार्थी तथा (६) ऐसा कोई भी आदमी जो आतिथेय का प्रिय हो। कोई कोई इस सूची में अतिथि को भी सम्मिलित करते हैं। ऋत्विज्, राजा और आचार्य्य के अतिरिक्त शेष लोगों को वर्ष में एक बार मधुपर्क देने का नियम रहा है। ऋत्विज् राजा और आचार्य्य को उनके आगमन पर हर बार देना होता था।

यह मधुपर्क किस चीज का बनता था? जिन चीजों से यह मधुपर्क बनता था, उनके बारे में मतभेद है। आश्वलायन-गृह्यसूत्र और आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र शहद और दही अथवा घी और दही मिलाने की बात कहते हैं। पाराशर गृह्य सूत्र के समान दूसरे सूत्रग्रन्थों के अनुसार दही, शहद तथा मक्खन—तीन चीजों के मेल से बनना चाहिये। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ने दूसरों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि ये तीनों चीजें मिलाई जा सकती हैं। अथवा इन तीनों के साथ भुना हुआ जौ और बाजरा मिलाकर पाँच

चीजें भी मिलाई जा सकती हैं। हिरण्य-गृह्य-सूत्र दही, शहद, घी, पानी और अन्न इन पाँच चीजों में से किन्हीं तीन को मिलाने की छुट्टी देता है। कौशिक सूत्र में ६ प्रकार की मिलावटों का उल्लेख है—ब्राह्म (शहद और दही), ऐन्द्र (दूध में चावल), सौम्य (दही और घी), पौष्ण (घी और मन्था हुआ दही), सारस्वत (दूध और घी), मौसल (सुरा और घी—इसका उपयोग सौत्रामणी और राजसूय यज्ञ में ही होता था), परिव्राजक (सरसों का तेल और उसकी खली)। माधवगृह्यसूत्र का कहना कि वेद की आज्ञा है कि मधुपर्क बिना मांस के नहीं होना चाहिये; इसलिये यदि गौ को छोड़ दिया जाय तो बकरी का मांस अथवा पायस (खीर) की बलि दी जा सकती है। हिरण्यगृह्य-सूत्र का कहना है कि दूसरे मांस की ही बलि देनी चाहिये। बौधायन गृह्य-सूत्र का कहना है कि गौ को यदि छोड़ दिया जाय तो एक बकरी के अथवा एक मेढ़े के मांस की बलि देनी चाहिये; या और कोई जङ्गली मांस (हिरण आदि का)। बिना मांस के मधुपर्क हो ही नहीं सकता। यदि कोई मांस की बलि न दे सकता हो तो वह धान्य पका ले।

इस प्रकार मधुपर्क में मांस, विशेष रूप से गो-मांस एक आवश्यक अंश है।

अतिथि के लिये गो-हत्या की बात इतनी सामान्य हो गई थी कि 'अतिथि' का नाम ही 'गोघ्न' पड़ गया था अर्थात् गौ की हत्या करने वाला। इस हत्या से बचने के लिये आश्वलायन-गृह्य-सूत्र का सुझाव है कि अतिथि के आगमन पर गौ को छोड़ देना चाहिये जिससे गौ की हत्या भी न हो और 'आतिथ्य' के नियम का भी भंग न हो।

तीसरे आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र के कथन के विरोधीपन के रूप में मृतक देह के संस्कार का उल्लेख किया जा सकता है। सूत्र का कहना है—

१. उसे तब निम्नलिखित यज्ञ साधन मृतक शरीर पर रखने चाहिये।

२, दायें हाथ में जुहु नाम का चम्मच।

३, बायें हाथ में उपभृत नाम का दूसरा चम्मच।

४, दायीं ओर 'स्फ्य' नाम की लड़की का याज्ञिक खड्ग, बायीं ओर अग्निहोत्रा हवनी।

५, छाती पर ध्रुवा (स्रुवा बड़ा) सिर पर तश्तरियाँ। दाँतों पर पत्थर।

६, उसकी नाक के दोनों ओर दो स्रुवा।

७, यदि स्रुवा एक ही हो तो उसी के दो टुकड़े कर दिये जायें।

८, दोनों कानों के पास दो प्रसित्रहरण अर्थात् वे बरतन जिनमें ब्राह्मण की याज्ञिक भोजन-सामग्री रखी जाती थी।

९ यदि प्रसित्रहरण एक ही हो तो उसी के दो टुकड़े कर दिये जायें।

१० पेट पर पत्री नामक बरतन।

११ वह चषक अथवा प्याला जिस में याज्ञिक भोजन-सामग्री का हिस्सा रखा जाता है।

१२ गुप्तांगों पर सम्य नाम की लाठी।

१३, जांघों पर दो जलती हुई लकड़ियाँ।

१४, टांगों पर चूना और पत्थर।

१५, पाँवों पर दो टोकरियाँ।

१६, यदि एक ही टोकरी हो तो उसी के दो हिस्से करके।

१७, जो खोखली चीजें हैं उनमें घृत छिड़क कर उन्हें भरा जाता है।

१८, मृत व्यक्ति के पुत्र को चक्की का नीचे और ऊपर का पाट उठाना चाहिये।

१९, ताँबे, लोहे तथा मिट्टी के सामान।

२०, मादा पशु के पेट की झिल्ली निकाल कर ऋक् वेद का यह मन्त्र कि ❀ 'उस बाजू पर जो तेरी आग से रक्षा करेगा और जो गौ से प्राप्त होता है' पढ़ते हुए उस द्वारा मृत व्यक्ति का सिर और मुख ढांप देना चाहिये।

❀ ऋग् १०, १६, ७

२१. पशु के अण्ड-कोष निकाल कर मृत-व्यक्ति के हाथों में रख दे। साथ में यह मन्त्र पढ़े—शमी के दोनों पुत्रों दोनों कुत्तों से बचे, दाहिने हाथ में दाहिना अण्ड-कोष, बायें में बायाँ।

२२. मृत-व्यक्ति के हृदय पर वह पशुओं का हृदय रखता है।

२३. कुछ आचार्यों के मतानुसार आटे या चावल की दो मुट्ठियाँ भी।

२४. कुछ आचार्यों के मतानुसार यह तभी जब अण्ड-कोष प्राप्य न हों।

२५. पशु के अंग अंग का बटवारा करके और उनको मृत-व्यक्ति के उन्हीं अंगों पर रख कर और उसे उसके चमड़े से ढक कर वह यह मन्त्र पढ़ता है कि 'हे अग्नि! जब प्रणीता जल आगे ले जाया गया है तो इस चबक को मत उलट।'

२६. अपना बायाँ घुटना झुका कर उसे दक्षिण अग्नि में 'अग्नये स्वाहा, कामाय स्वाहा, लोकाय स्वाहा, अनुमतये स्वाहा' कह कर आहुति डालनी चाहिए।

२७. मृत-व्यक्ति की छाती पर एक पाँचवीं आहुति दी जानी चाहिये। साथ में यह मन्त्र—'निश्चय से इससे हजारों का जन्म हुआ है। अब वह इसमें से पैदा हो। स्वर्ग के लिये स्वाहा।'

ऊपर के आश्वलायन गृह्य-सूत्र के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दी आर्यों में जब कोई आदमी मरता था तो एक पशु की बलि दी जाती थी और उस पशु का अंग-प्रत्यंग मृत-व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग पर रखकर ही उसे जलाया जाता था।

गो-हत्या तथा गो-मांसाहार के बारे में प्रमाणों की यह अवस्था है। इनमें से कौन-सा पक्ष सत्य माना जाय? यथार्थ बात यह मालूम देती है कि शतपथ ब्राह्मण और आपस्तम्ब धर्म-सूत्र के ऐसे लेख जो हिन्दुओं को गो-हत्या तथा गो-मांसाहार का विरोधी बताते हैं केवल अत्यधिक गो-हत्या

तथा गो-मांसाहार के विरुद्ध की गई प्रेरणायें हैं। वे गो-हत्या का निषेध नहीं करते हैं। वास्तव में इन प्रेरणाओं से यही सिद्ध होता है कि उस समय गो-हत्या तथा गो-मांसाहार एक सामान्य बात हो गई थी। इन प्रेरणाओं के बावजूद गो-हत्या तथा गो-मांसाहार जारी रहा। यह उपदेश प्रायः व्यर्थ ही जाते थे, यह आर्यों के महान् ऋषि याज्ञवल्क्य के आचरण से सिद्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण से जो प्रथम अनुच्छेद ऊपर उद्धृत किया है, वह वास्तव में याज्ञवल्क्य को ही सम्बोधन करके कहा गया था। याज्ञवल्क्य ने क्या उत्तर दिया ? उस उपदेश को सुनकर याज्ञवल्क्य बोला—

"मैं तो इसे खाता हूँ, यदि यह कोमल हो।"

एक समय हिन्दू गो-हत्या करते रहे हैं और गो-मांसाहार भी करते रहे हैं—यह बात बौद्ध सूत्रों में दिये गये यज्ञों के वर्णन से बहुत अच्छी तरह सिद्ध होती है। बौद्ध-सूत्रों का समय वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुत बाद का है। जिस परिमाण में गौओं और अन्य पशुओं की हत्या होती थी वह भयानक है। ब्राह्मणों ने धर्म के नाम पर जो हत्यायें की हैं, उनका लेखा-जोखा सम्भव नहीं है। हाँ, इस कसाईपन का कुछ अन्दाज़ा बौद्ध वाङ्मय के कुछ उद्धरणों से लग सकता है। उदाहरण के तौर पर हम कूटदन्त सूत्र का उल्लेख कर सकते हैं जिसमें बुद्ध ने कूटदन्त ब्राह्मण को पशु-हत्या न करने का उपदेश दिया है। बुद्ध यद्यपि व्यङ्ग्य की भाषा न बोल रहे हैं, तो भी उनके कथन से वैदिक युग कर्मकाण्ड का एक अच्छा चित्र उपस्थित होता है। उनका कहना है—

"और आगे, हे ब्राह्मण, उस यज्ञ में न बैल मारे गये, न बकरियाँ, न मुर्गे, न मोटे सूअर और न कोई और प्राणी ही मृत्यु के घाट उतारे गये। खम्भों के लिये कोई वृक्ष भी नहीं काटे गये। यज्ञ-मण्डप के गिर्द लपेटने के लिये दर्भ-घास भी नहीं छीली गई। और उसमें जो दास या दूसरे कर्मकर थे वे भी न मार से, न भय से काम करते थे और न काम करते समय उनके चेहरों से आँसू ही ढलते थे।"

दूसरी ओर कूटदन्त बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाने का सौभाग्य मिलने के लिये बुद्ध के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए, इस प्रकार के यज्ञों में जो भयानक पशु-बलि दी जाती है उसका कुछ हाल बताता है। उसका कहना है—

'मैं बुद्ध, धर्म, संघ की शरण ग्रहण करता हूँ। आज से भन्ते! यावज्जीवन मुझे त्रिशरण-प्राप्त उपासक जानें। मैं स्वयं, हे गौतम, अब सात सौ वृषभ, सात सौ तरुण बैल, सात सौ बछड़े, सात सौ बकरियाँ और सात सौ भेड़ों को मुक्त करता हूँ। वे घास खायें, ठण्डा पानी पीयें और ठण्डी २ हवाओं का आनन्द लें।'

संयुक्त निकाय में कोशल-नरेश प्रसेनजित् द्वारा किये गये एक यज्ञ का वर्णन दिया है। यह लिखा है कि पाँच सौ वृषभ, पाँच सौ बछड़े, और बहुत से तरुण बैल, बकरियाँ और भेड़ें यज्ञ में बलि देने के लिये यूप-स्तम्भ तक ले जाये गये।

ऐसी साक्षी रहने पर किसी को भी इस बारे में सन्देह नहीं हो सकता कि एक समय था जब हिन्दू—चाहे ब्राह्मण हों, चाहे अब्राह्मण हों—न केवल मांसाहारी थे; किन्तु गो-मांसाहारी भी थे।

बारह

अ-ब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ दिया ?

हिन्दुओं की भिन्न-भिन्न जातियों अथवा वर्गों के खान-पान के अभ्यास वैसे ही स्थिर और जड़ीभूत हो गये हैं जैसे उनके और अनेक रीति-रिवाज। जिस प्रकार हम रीति-रिवाजों के आधार पर हिन्दुओं का वर्गीकरण कर सकते हैं, उसी प्रकार उनके खान-पान के अभ्यास के आधार पर। जिस प्रकार साम्प्रदायिक दृष्टि से हिन्दू या शैव होते हैं या वैष्णव, उसी प्रकार वे या मांसाहारी होते हैं या शाकाहारी।

साधारणतः मांसाहारी और शाकाहारी का यह वर्गीकरण पर्याप्त हो सकता है। लेकिन यह मानना होगा कि यह पूरा २ ठीक वर्गीकरण नहीं है। अधिक विस्तृत वर्गीकरण के लिये हमें मांसाहारी वर्ग को दो हिस्सों में बाँटना होगा—(१) जो मांस खाते हैं, किन्तु गो-मांस नहीं खाते, (२) जो गो-मांस भी खाते हैं। दूसरे शब्दों में खान-पान को लेकर हिन्दू समाज के तीन हिस्से होंगे—(१) जो शाकाहारी हैं, (२) जो मांसाहारी हैं किन्तु गो-मांस नहीं खाते, (३) जो गोमांस भी खा लेते हैं। इसी वर्गीकरण से मेल खाता हुआ हिन्दू समाज का त्रिविध वर्गीकरण है—(१) ब्राह्मण, (२) अब्राह्मण, (३) अछूत। यद्यपि यह वर्गीकरण हिन्दू समाज के चातुर्वर्ण्य के साथ मेल नहीं खाता तो भी उसका वस्तु-स्थिति के साथ पूरा मेल बैठता है। क्योंकि ब्राह्मणों में ही एक वर्ग है जो शाकाहारी है, और अब्राह्मणों में ही वह वर्ग है जो मांस खाता है, किन्तु गो-मांस नहीं खाता तथा अछूतों में ही गोमांस भी खाने वाला वर्ग है।

यह त्रिविध वर्गी-करण सारपूर्ण है और इसका वस्तु-स्थिति से मेल है। कोई भी यदि इस वर्गीकरण पर ध्यान से विचार करेगा तो अब्राह्मणों

की स्थिति उसका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करेगी ही। शाकाहारी होना समझ में आता है। मांसाहारी होना समझ में आता है। लेकिन यह बात समझ में आनी कठिन है कि एक मांसाहारी केवल एक प्रकार के मांस—गो-मांस—के खाने के विरुद्ध क्यों आपत्ति करे ? यह एक गुत्थी है जिसे सुलझाने की आवश्यकता है। अ-ब्राह्मणों ने गो-मांसाहार क्यों छोड़ दिया ? इस मतलब के लिये इस विषय के कानूनों का अध्ययन आवश्यक है। तत्सम्बन्धी कानून या तो अशोक-कानून में होगा या मनु-कानून में।

(२)

हम अशोक से ही आरंभ करते हैं। अशोक के वे लेख–जिनका इस विषय से संबन्ध है–तीन हैं। शिला-लेख संख्या १ स्तम्भ-लेख संख्या २ और ५। शिला–लेख संख्या १ इस प्रकार है ❀—

"यह धर्म-लेख देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने लिखवाया है। यहाँ (इस राज्य में वा राजधानी में) किसी जीव को मारकर होम न किया जाय और 'समाज' + न किया जाय; क्योंकि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा 'समाज' में बहुत दोष देखते हैं। तथापि एक प्रकार के ऐसे समाज हैं जिन्हें देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा पसन्द करते हैं। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई सहस्र जीव सूप (शोरबा) बनाने के लिये मारे जाते थे, पर अब से जबकि यह धर्म-लेख

❀ [इयं धंमलिपी देवानं पियेन पियदसिना राजा लेखापिता [:] इध न किंचि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं न च समाजो कतथवो बहुकं हि दोसं समाजं हि पसति देवानं पियो ियदसि राजा। अस्ति पितु एकचा समाजा साधुमता देवानं पियस पियदसिनो राजो, पुरा महानसं हि देवानं पिय पियदसिनो राजो अनुदिसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय, से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एवं प्राणा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो, सोपि मगो न धुवो एते पि त्री प्राणा पछा न आरभिसरे।]

+ एक प्रकार का उत्सव जिसमें खेल-कूद, नाचना-गाना, (मांस) खाना, (सुरा) पीना आदि की ही प्रधानता रहती थी।

लिखा जा रहा है केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं (अर्थात्) दो मोर और एक मृग। पर मृग का मारा जाना नियत नहीं। यह तीनों प्राणी भी भविष्य में न मारे जायेंगे।"

स्तंभ-लेख संख्या २ इस प्रकार है ※ —

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—धर्म (करना) अच्छा है। पर धर्म क्या है ? चित्त-क्लेश की न्यूनता, बहुत से शुभ कर्म, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करना। ज्ञान-दान भी मैंने बहुत प्रकार से दिया। दोपायों, चौपायों, पक्षियों तथा जलचरों के प्रति मैंने बहुत अनुग्रह किया। मैंने उन्हें प्राण-दक्षिणा दी तथा और भी अनेक प्रकार के उपकार किये। यह लेख मैंने इसलिये लिखवाया कि लोग इसके अनुसार आचरण करें और यह चिरस्थायी रहे। जो इसके अनुसार चलेगा वह सुकृत करेगा।"

स्तम्भ-लेख संख्या ५ इस प्रकार है + —

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं:—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों का वध करना मना कर दिया है। यथा सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नान्दीमुख, गेलाट, जतुका (चमगीदड़), अम्बाकपीलिका, दुडि (कछुवा), बेहड्डी की मछली, वेद वेयक (जीवंजीवक), गंगापुपुटक, संकुजमत्स्य, कछुआ, साही, पर्णशश, बारहसिंहा,

---

※ [देवान पिय पियदसि लाजा हेवं आह—धंमे साधू कियं च धमे ति अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे सोचये, चखुदाने पि मे बहुविधे दिंने दुपद चतुपदेसु पखिवालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आपान दाखिनाये अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि एताय मे अठाये इयं धमलिपि लिखापिता हेव अनुपटिपजंतु चिलं थितिका च होतूति ति, ये च हेवं संपटिपजीसति से सुकटं कछती ति।]

+ [देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आह—सडु बीसति वस अभिसितेन मे इमानि जातानि अवधियानि कटानि से यथा सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे, गेलाटे, जतुका, अंबाकपीलिका, दडी, अनठिकमछे, वेदवेयके, गंगापुपुटके, संकुजमछे, कफटसयके, पंनससे सिमले संडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते

साँड, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कबूतर, गाँव के कबूतर और सब तरह के वे सब चौपाये जो न तो किसी प्रकार उपभोग में आते हैं और न खाये जाते हैं। गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ और सूअरी तथा इनके बच्चों को जो छः महीने तक के हों, न मारना चाहिये। मुर्गों को बधिया न करना चाहिये। जीवित प्राणियों के साथ भूसी को न जलाना चाहिये। अनर्थ करने के लिये या प्राणियों की हिंसा करने के लिये वन में आग न लगानी चाहिये। एक जीव को मार कर दूसरे जीव को न खिलाना चाहिये। प्रति चार-चार महीने की तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासी के दिन 'पौष' मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारना चाहिये और न बेचना चाहिये। इन सब दिनों में हाथियों के बन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहियें। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसुनक्षत्र के दिन, और प्रत्येक चार-चार महीने के त्योहारों के दिन बैल को न दागना चाहिये तथा बकरा, भेड़ा, सूअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियों को, जो दागे जाते हैं, न दागना चाहिये। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन, प्रत्येक चातुर्मास्य की पूर्णिमा के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और बैल को न

सवे चतुपदे ये पटिभोगं नो एति न च खादियति एळका चा सूकली चा गभिनी व पयमीना वा अवधिय पोतके पि च कानि आसंमासिके वधिकुकुटे नो कटविये; तुसे सजीवे नो झापेतविये; दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापयितविये, जीवेन जीवे नो पुसितविये तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा अनुपोसथं मछे अवधिये नोपि विकेतविये, एतानि चेव दिवसानि नागवनसि केवट-भोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि नो हंतवियानि अठमी पखाये चावुदसाये पंनडसाय तिसाय पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये, अजके एडके सूकले एवापि अंने नीलखियति नो नीलखितविये, तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासि पखाये अस्वसा गोनसा लखने नो कटविये, याव सडुवीसति वस अभिसितस मे एताये अंतलिकाये पंनवीसति बन्धनमोखानि कटानि।

दागना चाहिये। राज्याभिषेक के बाद २६ वर्ष के अन्दर मैंने २५ बार कारागार से लोगों को मुक्त किया है।"

यहाँ तक अशोक कानून की बात रही।

(३)

अब हम मनु की ओर ध्यान दें। उसके कानूनों में मांसाहार के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था है—

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत्॥ ५-११ ॥

[कच्चे मांस खाने वाले (गिद्ध आदि) और गाँव घर में रहने वाले (कबूतर आदि) पक्षी का मांस न खाय। जिनके नाम को निर्देश न किया गया हो ऐसे एक खुर वाले घोड़े और गधे आदि भी अभक्ष्य हैं। टिटीहरी पक्षी का मांस भी वर्जित है।]

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम्।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ ५-१२ ॥

[चटक (गौरैया), पपीहा, हंस, चकवा, ग्राम-कुक्कुट (मुर्गा), बत्तक, रज्जुवल, जलकाक, सुग्गा और मैना, इन पक्षियों का मांस न खाये ॥ ५-१२ ॥]

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान्।
निमज्जतश्च मत्स्यादान्शौनं वल्लूरमेव च ॥ ५-१३ ॥

[कठफोड़ा और जिनके चंगुल झिल्ली से जुड़े हों वे जल मुर्गा, नख से विदीर्ण कर खाने वालों (बाज आदि) और पानी में डूब कर मछली खाने वाला पक्षी, वधस्थान का मांस और सूखा मांस वर्जित है ॥ ५-१३ ॥]

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम्।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ ५-१४ ॥

[बगुला, बलाका, द्रोणकाक, खञ्जन, मछली खाने वाले जलजीव (मगर आदि), ग्राम्य शूकर और सब प्रकार की मछलियां न खाय॥५-१४॥]

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ ५-१५ ॥

[जो जिसका मांस खाता है, वह उसका मांस खाने वाला कहलाता है। जो मछली खाता है वह सब मांसों का खाने वाला है, इस लिये मछली न खाये ॥ ५-१५ ॥]

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्चैव सर्वशः ॥ ५-१६ ॥

[पाठीन (लुआरी) और रोहित (रोहू) मछली हव्य-कव्य के लिये प्रशस्त कही गई है। राजीव, सिंहतुण्ड और चोयरे वाली सब मछलियाँ खाद्य हैं ॥ ५-१६ ॥]

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ ५-१७ ॥

[अकेले चलने और रहने वाले सर्पादि जीवों को, भक्ष्यों में कहे गये वे पशु-पक्षी जो परिचित न हों उन्हें और पञ्च नख वाले वानरादि प्राणियों को न खाये ॥ ५-१७ ॥]

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ ५-१८ ॥

[पञ्चनखियों में सेध, साही, गोह, गैंडा, कछुआ और खरहा तथा एक ओर दांत वाले पशुओं में ऊँट को छोड़ कर बकरे आदि भक्ष्य हैं, ऐसा कहा है ॥ ५-१८॥]

(४)

पशुओं की हत्या के बारे में अशोक और मनु के जो कानून हैं—वे यहां आ गये। निस्सन्देह हमारा विषय मुख्य रूप से गो-हत्या है। अशोक के कानून की परीक्षा करने पर प्रश्न उठता है कि क्या गो-हत्या निषिद्ध ठहराई थी ? इस बारे में मत-भेद प्रतीत होता है। प्रो० विन्सट स्मिथ का

मत है कि अशोक ने गो-हत्या का निषेध नहीं किया था। अशोक के कानूनों पर टिप्पणी करते हुये इस बारे में प्रो० स्मिथ कहते हैं*---

"यह बात ध्यान देने की है कि अशोक के कानूनों में गो-हत्या का निषेध नहीं है, जो ऐसा लगता है कि गैर-कानूनी नहीं बनी थी।"

प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी प्रो० स्मिथ से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि अशोक ने गो-हत्या अवश्य बन्द कर दी थी। प्रो० मुकर्जी का आधार स्तम्भ-लेख संख्या ५ का वह हत्या से दूर का उद्धरण है जो सभी चौपायों पर लागू था। उनका तर्क है कि इस तरह गौ को हत्या से छूट मिल गई थी। स्तम्भ-लेख में जो कुछ कहा गया है उसका यह ठीक अर्थ नहीं है। स्तम्भ-लेख में जो कथन है वह विशेषता लिये हुये है। यह सभी चौपायों पर लागू नहीं होता। ये केवल उन चौपायों पर लागू होता है जो 'न तो किसी प्रकार उपयोग में आते हैं, न खाये जाते हैं।' गौ को हम ऐसा चौपाया नहीं कह सकते जो 'न तो किसी प्रकार काम में आता हो और न खाया ही जाता हो।' ऐसा लगता है कि प्रो० स्मिथ का यह कथन ठीक है कि अशोक ने गो-वध बन्द नहीं किया था। प्रो० मुकर्जी यह कहकर इस कठिनाई से बच निकलने का प्रयत्न करते हैं कि अशोक के समय गो-मांस नहीं खाया जाता था, और इसलिये उसकी निषेधात्मक आज्ञा गौ पर भी लागू होती है। उनका कथन एकदम बेहूदा है, क्योंकि गौ ऐसा पशु है जिसे सभी वर्ग के लोग खाते ही थे।

प्रो० मुकर्जी की तरह अशोक के स्तम्भ-लेख के साथ खींचा-तानी करके यह अर्थ निकालने की कोई आवश्यकता नहीं कि उसने गो-हत्या कानून से बन्द कर दी थी, मानो ऐसा करना उसका विशेष कर्तव्य था। अशोक का गौ से किसी तरह का कोई खास सरोकार नहीं था, और न वह यह अपना कोई खास कर्तव्य ही समझता था कि गौ को हत्या से बचाये। अशोक प्राणी मात्र पर--चाहे मनुष्य हों, चाहे पशु हों--दया दिखाना

* अशोक (पृ० ५८)

चाहता था। उसे अपना यह कर्तव्य मालूम दिया कि जहाँ जहाँ अनावश्यक रूप से पशु-हत्या होती हो; वहाँ वहाँ सब जगह बन्द करदे। यही कारण है कि उसने क्यों यज्ञों के लिये पशु-वध का निषेध किया। यह उसे अनावश्यक लगा। उसने उन पशुओं का भी निषेध ठहराया जो किसी उपयोग में नहीं आते अथवा जो खाये नहीं जाते। ऐसे पशुओं का निरर्थक वध वास्तव में अनुचित ठहरता। अशोक ने विशेष रूप से गो-वध के विरुद्ध कोई कानून नहीं बनाया। यदि हम बौद्ध दृष्टि-कोण समझ लें तो इस बात को लेकर अशोक पर कोई दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

जब हम मनु को लेते हैं तो उसने भी गो-हत्या के विरुद्ध कोई कानून नहीं बनाया उसने तो विशेष अवसरों पर गो-मांसाहार अनिवार्य ठहराया है।

✓ तो अब्राह्मणों ने गो-मांसाहार क्यों छोड़ दिया ? उनके इस 'त्याग' का कोई कारण—जो ऊपर ही दिखाई दे जाय—नहीं मालूम देता। लेकिन इसका कोई न कोई कारण होना ही चाहिये। जो कारण मुझे सूझता है वह यह है कि अब्राह्मणों ने ब्राह्मणों का अनुकरण करने के प्रयत्न में गो-मांस खाना छोड़ा, यह एक नया सुझाव हो सकता है; किन्तु यह कोई असम्भव सुझाव नहीं। श्री जबरील तार्दे नाम के फ्रांसीसी लेखक ने संस्कृति के बारे में लिखा है कि वह किसी निम्न-स्तर के वर्ग-विशेष में अपने से ऊँचे स्तर के वर्ग की संस्कृति की नकल करने से फैलती है। यह नकल करना इतने धीरे धीरे होता है और यह मशीन की तरह अपना काम इस तरह करता है जैसे कोई भी प्राकृतिक नियम।। जबरील तार्दे ने नक़ल करने के नियमों की चर्चा की है। उनमें से एक यह है कि नीचे के वर्ग के लोग सदैव ऊपर के वर्ग के लोगों की नकल करते हैं। यह एक ऐसी सामान्य जानकारी की बात है कि शायद ही कोई आदमी इसकी यथार्थता को अस्वीकार करे।

अब्राह्मणों में जो गो-पूजा का भाव उदय हुआ और उन्होंने जो

गो-मांस खाना छोड़ दिया, वह इसमें तनिक सन्देह नहीं—अपने ऊँचे से दर्जे के ब्राह्मणों की नकल करने के प्रयत्न का ही परिणाम है। यह भी सत्य है कि ब्राह्मणों द्वारा गो-पूजा के पक्ष में बहुत प्रचार कार्य किया गया है। गायत्री-पुराण इस प्रचार कार्य का एक नमूना है। लेकिन मूलतः यह नकल करने के प्राकृतिक नियम का ही परिणाम है। हाँ, अब इससे एक दूसरा प्रश्न उठता है—ब्राह्मणों ने गो-मांस क्यों छोड़ा ?

तेरह

ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बन गये ?

यह स्पष्ट है कि अ-ब्राह्मणों में एक क्रान्ति हुई। गोमांसाहार छोड़ देना एक क्रान्ति ही थी। लेकिन यदि अ-ब्राह्मणों में एक क्रान्ति हुई तो ब्राह्मणों में डबल क्रान्ति हुई। उन्होंने गोमांस खाना छोड़ा, यह एक क्रान्ति हुई। मांसाहार सर्वथा त्याग कर शाकाहारी बन जाना दूसरी क्रान्ति है।

इसमें तनिक सन्देह नहीं कि यह एक क्रान्ति थी। क्योंकि जैसा पूर्व के परिच्छेदों में दिखाया गया है। एक समय था जब ब्राह्मण सबसे बड़े गोमांसाहारी थे। यद्यपि अ-ब्राह्मण लोग भी गो-मांस खा लेते थे, किन्तु उनको यह रोज-रोज सुलभ नहीं हो सकता था। गौ एक मूल्यवान् पशु था और अ-ब्राह्मण लोग केवल भोजन के लिये गो-हत्या करें यह उनके लिये बहुत कठिन था। वह खास-खास समयों पर ही ऐसा कर सकता था जब या तो उसे उसका धार्मिक कर्तव्य या किसी देवता को प्रसन्न करने का व्यक्तिगत स्वार्थ उसे मजबूर करता था। लेकिन ब्राह्मण की बात दूसरी थी। वह पुरोहित था। कर्म-काण्ड के उस युग में शायद ही कोई दिन ऐसा हो जब किसी न किसी यज्ञ के निमित्त गो-वध न होता हो और जिसमें कोई न कोई अब्राह्मण किसी न किसी ब्राह्मण को न बुलाता हो। ब्राह्मण के लिये हर दिन गोमांसाहार का दिन था। इस लिये ब्राह्मण सबसे बड़े गोमांसाहारी थे। ब्राह्मणों का यज्ञ धर्म के नाम पर निरपराध पशुओं की हत्या के आयोजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता था। वह बड़े ठाट-बाट के साथ होता था और अपनी गो-मांस-लिप्सा के छिपाये रखने के लिये उसे 'रहस्य-पूर्ण' बनाने का प्रयत्न किया जाता था। इस रहस्यमय

ठाठ-बाठ की कुछ जानकारी पशु-हत्या के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मणमें जो कुछ सूचनाएँ दी गई हैं, उनसे हो सकती है।

पशु की हत्या से पहले बे-हिसाब लम्बे और विविध मन्त्रों के साथ प्रारम्भिक-संस्कार किया जाता था। यज्ञ की मुख्य-मुख्य बातों की एक कल्पना दे देना पर्याप्त है। यज्ञ-स्तम्भ को ही 'यूप' कहते हैं। उसी की स्थापना से यज्ञ आरम्भ होता है। पशु की 'हत्या' से पहले पशु को इस यज्ञ-स्तम्भ से ही बाँधते हैं। 'यूप' की आवश्यकता बताने के अनन्तर ऐतरेय ब्राह्मण में इसका तात्पर्य दिया है :—

[1]"'यूप' एक शस्त्र है। इसके सिरे के आठ किनारे होने चाहियें। क्योंकि एक शस्त्र (लोहे के बल्लम) के आठ कोने होते हैं। जब भी वह उससे किसी शत्रु या विरोधी पर प्रहार करता है तो उसे मार डालता है। यह शस्त्र, जिसे अभिभूत करना हो, उसे अभिभूत कर देता है। 'यूप' एक शस्त्र है, जो शत्रु के विनाश के लिये सीधा खड़ा रहता है। इससे यज्ञकर्त्ता का शत्रु जो (यज्ञ में) उपस्थित हो सकता है। उस 'यूप' को देखकर दुःख को प्राप्त होता है।"

यूप के लिये लकड़ी यज्ञकर्त्ता के यज्ञ करने के उद्देश्य के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की चुनी जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है—

[2]"जो स्वर्ग चाहता है उसे अपना 'यूप' खदिर की लकड़ी का बनाना चाहिये; क्योंकि देवताओं ने खदिर लकड़ी के यूप से ही दिव्य-लोक को जीता। उसी प्रकार यज्ञकर्त्ता खदिर की लकड़ी से बने हुये 'यूप' से दिव्य-लोक को जीतता है।

[1] वज्रो वा एष यद्यूपः सोऽष्टाश्रिः कर्तव्योऽष्टाश्रिर्वै वज्रस्तं तं प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै, इति।

वज्रो वै यूपः स एष द्विषतो वध उद्यतस्तिष्ठति तस्माद्धाप्येतर्हि यो द्वेष्टि तस्याप्रियं भवत्यमुष्यायं यूपोऽनुष्ठायं यूप इति दृष्ट्वा, इति।

[2] खादिरं यूपं कुर्वीत स्वर्गकामः खादिरेण वै यूपेन देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद्यजमानः खादिरेण यूपेन स्वर्गं लोकं जयति, इति।

[1]"जो भोजन चाहता है और मोटाना चाहता है, उसे अपना 'यूप' बेल (बिल्व) की लकड़ी बनाना चाहिये। बेल के पेड़ को प्रतिवर्ष फल लगते हैं। यह उर्वता का प्रतीक है; क्योंकि यह जड़ से शाखाओं तक (प्रतिवर्ष) आकार में बढ़ता रहता है, इसलिये यह मोटापे का प्रतीक है। जो यह जानता है और इसलिये अपना 'यूप' बेल की लकड़ी का बनाता है, उसके बच्चे और पशु मोटाते हैं।"

[2]"बेल की लकड़ी से बने यूप के बारे में इतना और कहना है—जो बिल्व को बार-बार 'प्रकाश' कहता है और ऐसा जानता है, वह अपने जन में प्रकाश बन जाता है और अपने जन में सबसे श्रेष्ठ।"

[3]"जो सौन्दर्य और पवित्र विद्या चाहता है, उसे अपना 'यूप' पलास की लकड़ी का बनाना चाहिये। क्योंकि पलास सौन्दर्य और पवित्र विद्या का पेड़ है। जो यह जानता है और इसलिये अपना 'यूप' पलास की लकड़ी का बनाता है। वह 'सुन्दर' हो जाता है और पवित्र विद्या प्राप्त करता है।

"पलास की लकड़ी से बने 'यूप' के बारे में (इतना और वक्तव्य है) कि पलास सब वृक्षों का गर्भ है। इसीलिये वे उस अथवा उस वृक्ष के

---

[1] बैल्वं यूपं कुर्वीतान्नाद्यकामः पुष्टिकामः समां समां वै बिल्वो गृभीतस्तद-न्नाद्यस्य रूपमामूलाच्छाखाभिरनुचितस्तत्पुष्टेः, इति।

[2] पुष्यति प्रजां च पशूंश्च य एवं विद्वान्बैल्वं यूपं कुरुते, इति।

यदेव बैल्वां३ बिल्वं ज्योतिरिति वा आचक्षते, इति।

ज्योतिः स्वेषु भवति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद, इति।

[3] पालाशं यूपं कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं वनस्पतीनां पलाशः, इति।

तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान्पालाशं यूपं कुरुते, इति।

यदेव पालाशां३ सर्वेषां वा वनस्पतीनां योनिर्यत्पलाशस्तस्मात्पलाशस्यैव पलाशेनाऽऽचक्षतेऽमुष्य पलाशममुष्य पलाशमिति, इति।

सर्वेषां हास्य वनस्पतीनां काम उपाप्तो भवति य एवं वेद इति।

पलास की बात करते हैं। जो यह जानता है। उसकी सभी इच्छायें, किसी पेड़ से भी क्यों न हों, पूरी होती हैं।"

उसके बाद 'यूप' के अभिषेक का संस्कार होता है—

[१]"अध्वर्यु (होता से) कहता है : "हम 'यूप' का अभिषेक करते हैं। अपेक्षित मन्त्र पढ़ो।" तब होता मन्त्र पढ़ता है—"अञ्जन्ति त्वां अध्वरे…" (३, ८, १) अर्थात् "हे वृक्ष ! पुरोहित दिव्य मधु (मक्खन) से तेरा स्वागत करते हैं। यदि तू यहाँ सीधा खड़ा है, अथवा यदि तू अपनी माता (पृथ्वी) पर लेटा हुआ है, तो हमें धन दे।" "दिव्य-मधु" पिघला हुआ मक्खन है (जिससे पुरोहित "यूप" का अभिषेक करते हैं। दूसरे आधे मन्त्र "हमें दें" आदि का अर्थ है "चाहे तुम खड़े हो, चाहे लेटे हो, हमें धन दो।"

(तब होतृ दोहराता है :)[२] "जातो जायते सुदिनत्वे…" (३, ८, ५) अर्थात् "उत्पत्ति के बाद, वह (यूप) अपने जीवन के मध्यकाल में मरण-शील मनुष्यों के यज्ञ में उपयोग आता है। बुद्धिमान् लोग उसे (यूप को) सजाने में संलग्न हैं। वह देवताओं के व्याख्यान-पटु दूत की तरह अपना स्वर

---

[१] अञ्ज्मो यूपमनुब्रूहीत्याहाध्वर्युः, इति।

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्त इत्यन्वाह, इति।

अध्वरे ह्येनं देवयन्तोऽञ्जन्ति, इति।

वनस्पते मधुना दैव्येनेत्येतद्वै मधु दैव्यं यदाज्यम्, इति।

यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थ इति यदि च तिष्ठासि यदि च शयासै द्रविणमेवास्मासु धत्तादित्येव तदाह, इति।

[२] जातो जायते सुदिनत्वे अह्नामिति, इति।

जातो ह्येष एतज्जायते, इति।

समर्य आ विदथे वर्धमान इति वर्धयन्त्येवैनं तत्, इति।

पुनन्ति धीरा अपसो मनीषेति पुनन्त्येवैनं तत्, इति।

देवया विप्र उदियर्ति वाचमिति देवेभ्य एवैनं तन्निवेदयति, इति।

ऊँचा करता है कि देवता उसे सुन सकें " वह (यूप) जात अर्थात् उत्पन्न कहलाता है, क्योंकि वह इस श्लोक के प्रथम चरण के उच्चारण से पैदा होता है। वर्धमान (शब्द से) अर्थात् बढ़ना से वे उसे (यूप को) इस प्रकार बढ़ाते हैं। पुनन्ति (शब्द से) अर्थात् पवित्र करना, सजाना, वे उसे इस प्रकार पवित्र करते हैं। "वह एक व्याख्यान-पटु दूत" शब्दों से वह देवताओं को यूप के अस्तित्व की सूचना देता है।

होतृ यज्ञ-स्तम्भ के अभिषेक के संस्कार को समाप्त करता है। उस समय वह पढ़ता है :-[१] "युवा सुवासाः परिवीत आगात्...." (३, ८, ४,) अर्थात् पट्टी से सजा हुआ युवा आ पहुँचा है। वह (उन सब वृक्षों से) जो कभी भी उत्पन्न हुए हों बढ़कर है; बुद्धिमान् पुरोहित अपने अन्तस् सु-व्यवस्थित विचारों के मन्त्र-पाठ द्वारा उसे उठाते हैं। पट्टी से सजा हुआ युवा जीवन दायिनी वायु (आत्मा) है, जो शरीर के अंगों द्वारा ढका है। "वह बढ़िया है" इत्यादि शब्दों से उसका अर्थ है कि वह (यूप) बढ़िया होता जा रहा है। (अधिक श्रेष्ठ, सुन्दर) इस मन्त्र के बल से।

इससे आगे का संस्कार आग से यज्ञस्तम्भ की परिक्रमा करना है। इस सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण की निम्नलिखित सूचना है—

[२]"जब (पशु) के चारों ओर आग घुमाई जाती है तो अध्वर्यु होतृ से कहता है—अपना मन्त्र पाठ करो। तब होतृ अग्नि को सम्बोधित करके

---

१ युवा सुवासाः परिवीत आगादित्युत्तमया परिदधाति, इति।

प्राणो वै युवा सुवासाः सोऽयं शरीरैः परिवृतः, इति।

स उ श्रेयान् भवति जायमान इति श्रेयाञ्छ्रेयान् ह्येष एतद्भवति जायमानः, इति।

तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त इति ये वा अनूचानास्ते कवयस्त एवैनं तदुन्नयन्ति, इति।

२. पर्यग्नये क्रियमाणायानुब्रूहीत्याहाध्वर्युः—इति।

अग्निर्होता नो अध्वर इति तृचमाग्नेयं गायत्रमन्वाह पर्यग्नि क्रियमाणे स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन छन्दसा समर्धयति, इति।

गायत्री छंद में रचे गये तीन मन्त्रों को पढ़ता है—"अग्निर् होता नो अध्वरे......" (४, १५, १—३) अर्थात् (१) हमारा पुरोहित, अग्नि, एक घोड़े की तरह घुमाया जा रहा है। वह देवताओं में यज्ञ का देवता है। (२) एक रथी की तरह अग्नि यज्ञ के पास से तीन बार गुजरता है, वह देवताओं के पास आहुति ले जाता है। (३) भोजन का अधिष्ठाता, अग्नि-ऋषि आहुति के गिर्द घुमा; वह यज्ञकर्ता को धन देता है।

[१]"जब (पशु) के गिर्द अग्नि लेकर घूमा जाता है तो उसे अपने देवता और अपने छन्दस के द्वारा यशस्वी बनाता है। वह एक 'घोड़े की तरह ले जाया जाता है' का अर्थ है कि वह उसे घुमाते हैं मानो वह कोई घोड़ा हो। 'एक रथी की तरह अग्नि तीन बार यज्ञ के पास से गुजरती है' का अर्थ है कि वह एक रथी की तरह (शीघ्रता से) यज्ञ के गिर्द घूमती है। वह वाजपति (भोजन-अधिष्ठाता) कहलाता है, क्योंकि वह (तरह तरह के) भोजनों का अधिष्ठाता है।"

[२]"अध्वर्यु कहता है : हे होतः ! देवताओं को आहुति देने के लिये अतिरिक्त आज्ञा दो।"

[३]"तब होतृ (बधिकों को) आदेश देता है—हे दिव्य बधिको ! (अपना कार्य) आरम्भ करो और तुम जो मानवीय बधिक हो वह भी। इसका अर्थ है कि वह सभी बधिकों को, चाहे वे देवताओं में हों, चाहे आदमियों में आज्ञा देता है कि वे (आरम्भ करें)।"

[४]"वध करने के शस्त्र यहाँ लाओ, तुम लोग जो यज्ञ के दोनों स्वामियों की ओर से यज्ञ का आदेश दे रहे हो।

१. वाजी सन्परिणीयत इति वाजिनमिव ह्येनं सन्तं परिणयन्ति, इति । परित्रिर्विष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिवेत्येष हि रथीरिवाध्वरं परियाति, इति । परिवाजपतिः कविरित्येष हि वाजानां पतिः, इति ।

२. अत उपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्याहाध्वर्युः, इति ।

३. दैव्याः शमितार आरभध्वमुत मनुष्या इत्याह, ये चैव देवानां शमितारो ये च मनुष्याणां तानेव तत्संशास्ति, इति ।

४. उपनयत मेध्या आशासाना मेधपतिभ्यां मेधमिति, इति ।

[1]"पशु आहुति है, यज्ञ-कर्ता आहुति का स्वामी है। इस प्रकार होतृ यज्ञ-कर्ता को उसकी अपनी आहुति से यशस्वी बनाता है। इसीलिये वे सत्य कहते हैं—जिस देवता के लिये भी पशु का वध किया जाता है, वही उसका स्वामी है। यदि एक ही देवता के लिये 'पशु' की बलि दी जाती हो तो पुरोहित को कहना चाहिये—मेधपतये अर्थात् यज्ञ के स्वामी के लिये (एक वचन) यदि देवताओं के लिये तो उसे द्विवचन का प्रयोग करना चाहिये—यज्ञ के दोनों स्वामियों के लिये। यदि अनेकों देवताओं के लिये, तो उसे बहुवचन का प्रयोग करना चाहिये—यज्ञ के स्वामियों के लिये। यही निश्चित धर्म है।"

[2]"तुम उसके लिये अग्नि लाओ ! पशु को जब वध-स्थान की ओर ले जाया गया, तो उसने अपने सामने मृत्यु को देखा। वह देवताओं के पास नहीं जाना चाहता था, तब देवताओं ने उसे कहा—आओ, हम तुम्हें स्वर्ग पहुँचायेंगे। पशु मान गया और बोला—तुम में से एक को मेरे आगे २ चलना चाहिये। देवताओं ने स्वीकार किया। तब अग्नि पशु के आगे आगे चला और पशु उसके पीछे पीछे। इसी से वे कहते हैं कि हर पशु पर

---

१. पशुर्वै मेधो यजमानो मेधपतिर्यजमानमेव तत्स्वेन मेधेन समर्धयति, इति। अथो खल्वाहुर्यस्यै वाव कस्यै च देवतायै पशुरालभ्यते सैव मेधपतिरिति इति।

स यद्येकदेवत्यः पशुः स्यान्मेधपतय इति ब्रूयाद्यदि द्विदेवत्यो मेधपतिभ्यामिति यदि बहुदेवत्यो मेधपतिभ्य इत्येतदेव स्थितम्, इति।

२. आभरा अग्निं भरतेति, इति।

पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत्स देवान्नान्वकामयतैतुं तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्याम इति स तथेत्यब्रवीत्तस्य वै मे युष्माकमेकः पुरस्तादैत्विति तथेति तस्याग्निः पुरस्तादैत्सोऽग्निमनुप्राच्यवत, इति।

तस्मादाहुराग्नेयो वाव सर्वः पशुरग्निं हि सोऽनुप्राच्यवतेति, इति।

तस्मादस्याग्निं पुरस्ताद्धरन्ति, इति।

अग्नि का अधिकार है, क्योंकि पशु अग्नि के पीछे पीछे चला। इसी लिये वे पशु के आगे आगे अग्नि ले जाते हैं।"

[1]"पवित्र दूब बिखेर दो! पशु वनस्पति पर जीता है। होतृ इस प्रकार पशु को उसकी समस्त आत्मा देता है, (क्योंकि वनस्पति उसका हिस्सा समझी जाती है)।"

पशु के चारों ओर आग घुमा चुकने के बाद पशु यज्ञ के लिये पुरोहितों को दिया जाता है। यज्ञ के लिये पशु का समर्पण कौन करे? इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण की आज्ञा है--

[2]"माँ, पिता, भाई, बहन, मित्र और साथियों को चाहिये कि वे वध करने के लिये पशु का समर्पण करें। (जिस समय ये शब्द कहे जाते हैं, वे उस पशु को पकड़ लेते हैं, जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह माता पिता आदि के द्वारा सर्वथा परित्यक्त है।"

इस सूचना को पढ़ कर आश्चर्य होता है कि लगभग हर किसी के लिये इसकी क्या आवश्यकता है कि वह पशु को यज्ञ के लिये समर्पित करने के संस्कार में हिस्सा ले। कारण स्पष्ट है। यज्ञ में हिस्सा लेने के अधिकारी पुरोहितों की कुल संख्या सत्रह थी। स्वाभाविक तौर पर वे मृत-पशु की पूरी की पूरी लाश अपने ही लिये ले लेना चाहते थे।[3] वास्तव में यदि उन्हें सारी की सारी लाश अपने ही लिये न मिले तो वे सत्रह पुरोहितों में कुछ ठीक ठीक बाँट भी नहीं सकते थे। कानूनी दृष्टि से ब्राह्मणों को पशु की सारी की सारी लाश मिल भी नहीं सकती थी जब तक कि पशु पर किसी प्रकार का भी अधिकार जता सकने वाला हर आदमी अपने उस

१. स्तृणीत बर्हिरित्योषध्यात्मा वै पशुः पशुमेव तत्सर्वात्मानं करोति, इति।

२. अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति जनित्रैरेवैनं तत्समनु मतमालभन्ते, इति।

३. वास्तव में ब्राह्मण ही सारी लाश पाता था। केवल पशु की टाँगें ही यज्ञकर्ता और उसकी धर्म-पत्नी के हिस्से में आती थीं।

अधिकार को सर्वथा छोड़ न दे। इसी लिये उक्त 'सूचना' में जो आदमी पशु के साथ आया हो उसे भी अपना अधिकार छोड़ देने का आदेश है।

अब पशु को वध करने का विधि-विधान आता है। ऐतरेय ब्राह्मण पशु की हत्या करने के विधि-विधान का ब्यौरा इस प्रकार देता है—

[1]"इसके पैर उत्तर की ओर मोड़ो। इसकी आखें सूर्य की ओर, इस की श्वास वायु को, इसका जीवन हवा को, इसकी श्रवण-शक्ति दिशाओं को और इसका शरीर पृथ्वी को सौंप दो। इस प्रकार (होतृ) इसे लोकों के साथ जोड़ देता है।

[2] "(बिना काटे) सारी चमड़ी उतार लो। नाभी को काटने से पहले (Omentum) को चीर डालो। (इसका मुँह बन्द करके) इसके साँस को अन्दर ही अन्दर रोक दो। इस प्रकार वह (होतृ) पशुओं में श्वांस डालता है।"

[3]"इसकी छाती का एक टुकड़ा बाज की शकल का काले बाजुओं के (दो टुकड़े) कुल्हाड़ी की (शकल के), अगले पाँव के (दो टुकड़े), धान की बालों की (शकल के), कंधों के (दो टुकड़े), दो काइयों की (शकल के), कमर का नीचे का हिस्सा अटूट रहे, जाँघ के (दो टुकड़े) बाल की (शकल के), दोनों घुटनियों के (दो टुकड़े) पत्तों को (शकल के), इसकी २६ पसलियाँ क्रमशः निकाल लो जायें। इसके प्रत्येक अंग को सुरक्षित रखा जाय। इस प्रकार वह उसके सारे अंगों को लाभ पहुँचाता है।"

---

१. उदीचीनां अस्य पदो निधत्तात्सूर्यं चक्षुर्गमयतात् वातं प्राणमन्ववसृजतात्। अन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमित्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वादधाति। (ऐत० ब्रा०)

२. एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्यतात् पुरा नाभ्या अपिशसो वपामुत्खिदतादन्तरेवोष्माणं वारयध्वादिति पशुष्वेव तत् प्राणान् दधाति। ऐत० ब्रा०

३. श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू शला दोषणी कश्यपेवांसाऽच्छिद्रे श्रोणी कवषोरू स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता अनुष्ठ्योच्च्यावयतात्। गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतादित्यङ्गान्येवास्य तद् गात्राणि प्रीणाति। (ऐत० ब्रा०)

यज्ञ के लिये पशु की हत्या करने के सम्बन्ध में दो संस्कार बच गये। एक है ब्राह्मण पुरोहित को, जिसने कसाई का काम किया, 'हत्या' के पाप से मुक्त करने का संस्कार; सिद्धान्त रूप से वे 'हत्यारे' ठहरते हैं; क्योंकि पशु केवल यज्ञ-कर्ता का स्थानापन्न ही है। उन्हें 'हत्या' के परिणाम से बचाने के लिये ऐतरेय ब्राह्मण ने होतृ को निम्नलिखित आज्ञा की है :—

[१] "उदरस्थ को न काटो, जो कि उल्लू की शकल का होता है; और हे वध करने वालो ! तुम्हारे बच्चों अथवा तुम्हारी सन्तान में भी कोई ऐसा न हो जो उसे काट दे" इन शब्दों को कह कर वह देवताओं और मनुष्यों, दोनों के मध्य में; जो हत्यारे हैं, उनको देता है।"

[२] "तब होतृ को तीन बार कहता है, "हे अध्रिगु ! (और हे दूसरो) (पशु का) वध करो, इसे अच्छी तरह करो, इस का वध करो, हे अध्रिगु ! पशु की हत्या हो चुकने पर उसे तीन बार कहना चाहिये ! (इस हत्या का दुष्परिणाम हमसे) दूर हो। क्योंकि देवताओं में अध्रिगु है जो (पशु को) चुप कराता है, और अपापा (दूर-दूर) है। जो उसे नीचे गिराता है। यह शब्द कह कर वह पशु को उन्हें सौंप देता है। जो (उसका मुँह बन्द करके) उसे चुप कराते हैं, और उन्हें जो उसका वध कर डालते हैं।"

[३] तब होतृ जप करता है; "हे बधिको ! तुम्हारा पुण्य यहाँ हमारे पास रहे; तुम्हारा पाप अन्यत्र चला जाय।" होतृ उस कथन से (पशु-वध

---

१. वनिष्ठुमस्य मा राविष्टोरूकं मन्यमाना नेद्वस्तोके तनये रविता रवच्छमितार इति ये चैव देवानां शमितारो ये च मनुष्याणां तेभ्य एवैनं तत् परिददाति। (ऐ० ब्रा०)

२. अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो ३ उ इति त्रिब्रूयादपापेति चाध्रिगुर्वै देवानां शमिताऽपापो निग्रभीता शमितृभ्यश्चैवैनं निग्रभीतृभ्यश्च संप्रयच्छति।

३. शमितारो यदत्र सुकृतं कृणवथास्मासु तद् यद्दुष्कृतमन्यत्र तदित्याहाग्निर्वै देवानां होताऽसीत् स एनं वाचा व्यशाद् वाचा वा एनं होता विशास्ति तद् यदर्वाग् यत्परः कृन्तन्ति यदुल्बणं यद्विथुरं क्रियते शमितृभ्यश्चैवैनं तन्निग्रभीतृभ्यश्च समनुदिशति स्वस्त्येव होतोन्मुच्यते सर्वायुः सर्वायुत्वाय। सर्वमायुरेति य एवं वेद। (ऐ० ब्रा०)

की) आज्ञा देता है। क्योंकि अग्नि जब देवताओं का होतृ था तो उसने भी इन्हीं शब्दों में (पशु के) वध की आज्ञा दी थी।

उक्त जप से होतृ, उन सबको, जो पशु का श्वास बन्द करते हैं, अथवा जो उसका वध करते हैं, उस (पाप) के दुष्परिणाम से मुक्त करता है। जो उनसे किसी टुकड़े को अतिशीघ्रता से काटने, किसी टुकड़े को अति-विलम्ब से काटने, किसी टुकड़े को बहुत बड़ा काटने और किसी टुकड़े को बहुत छोटा काटने के परिणाम-स्वरूप नियमोल्लंघन वश हो गया हो। होतृ इसका आनन्द लेते हुए अपने आप को तमाम पाप से मुक्त करता है, और पूरी आयु प्राप्त करता है; और इससे यज्ञ-कर्ता भी अपनी पूरी आयु प्राप्त करता है। जिसको यह ज्ञान है अपनी पूरी आयु प्राप्त करता है।"

इससे आगे ऐतरेय ब्राह्मण मृत पशु के शरीर के भाग को ठिकाने लगाने के प्रश्न पर विचार करता है। उसका आदेश है—

[१]"इसका गोबर छिपाने के लिये जमीन में एक गढ़ा खोदो। गोबर शाकाहार से बनता है; क्योंकि पृथ्वी वनस्पति का स्थान है। इस लिये होतृ अन्त में गोबर को उसके उचित स्थान पर रखता है। प्रेतात्माओं को रक्त दो, क्योंकि एक बार देवताओं ने प्रेतात्माओं को हविर्यज्ञ (पूर्णिमा तथा प्रतिपदा के दिन की बलि) का उनका हिस्सा न दे उन्हें भूसी और छोटा धान मात्र दिया और फिर उन्हें (सोम तथा पशु-यज्ञ जैसे) बड़े यज्ञों में से निकाल बाहर कर रक्त दिया। इस लिये होतृ इस मन्त्र का जप करता है : प्रेतात्माओं को रक्त दो। उनको यह हिस्सा देकर फिर उन्हें यज्ञ में से कोई भी और चीज लेने से वंचित कर

१, ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतादित्यौषधं वा ऊवध्यमियं वा ओषधीनां प्रतिष्ठा तदेनत्स्वायामेव प्रतिष्ठायामन्ततः प्रतिष्ठापयति, इति।

अस्ना रक्षः संसृजतादित्याह तुषैर्वै फलीकरणैर्देवा हविर्यज्ञेभ्यो रक्षांसि निरभजन्नस्ना महायज्ञात्स यदस्ना रक्षः संसृजतादित्याह रक्षांस्येव तत्स्वेन भागधेयेन यज्ञान्निरवदयते, इति।

दिया जाता है। वे कहते हैं—बुरी आत्माओं को यज्ञ में याद नहीं करना चाहिये। राक्षस, असुर, बुरी आत्मायें कोई भी हों; क्योंकि यज्ञ उनके बिना विघ्न-बाधा के होना चाहिये। लेकिन दूसरों का मत है कि उन्हें याद करना चाहिये। क्योंकि यदि कोई किसी को उसके हिस्से से वंचित करता है तो जिसे वह वंचित करेगा वह उसे कष्ट देगा। यदि वह अपने दण्ड से बच गया, तो उसके पुत्र को, और यदि यह भी बच गया तो उसके पौत्र को कष्ट भोगना पड़ेगा। इस प्रकार जो कष्ट तुम्हें मिलता वह कष्ट तुम्हारे पुत्र या पौत्र को मिलता है।"

जो हो, यदि होतृ सम्बोधन करे तो उसे धीरे स्वर से करना चाहिये। क्योंकि "धीरे स्वर" और प्रेत-आत्मायें दोनों ही छिपी-सी रहती हैं। यदि वह ऊँचे स्वर में बोलता है, तो वह प्रेतात्माओं की आवाज में बोलता है, और वह राक्षस-स्वर (एक भयानक आवाज) में बोलने में लग जा सकता है। जिस वाणी में क्रोधी तथा शराबी आदमी बोलते हैं, वह राक्षसों की बोली है। जिसे यह ज्ञान है वह न स्वयं क्रोधी होगा न उसकी वैसी सन्तान होगी।"

तब अन्तिम-संस्कार बाकी रह जाता है, पशु के शरीर के अंग देव-

तदाहुर्न यज्ञे रक्षसां कीर्तयेत्कानि रक्षांसृतेरक्षा वै यज्ञ, इति।

तदु वा आहुः कीर्तयेदेव, इति।

यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते त्वेवैनमिति, इति।

स यदि कीर्तयेदुपांशु कीर्तयेत्तिर इव वा एतद्वाचो यदुपांशु तिर इवैतद्यद्रक्षांसि, इति।

अथ यदुच्चैः कीर्तयेदीश्वरो हास्य वाचो रक्षो भाषो जनितो, इति।

योऽयं राक्षसीं वाचं वदति सः, इति।

यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्, इति।

नाऽऽत्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्त आजायते य एवं वेद, इति।

देवताओं को समर्पित करने का संस्कार। यह मनोत कहलाता है। 'अत्रेय' ब्राह्मण के अनुसार:—

[1]"अध्वर्यु होतृ को कहता है—मनोत के लिये काटे गये, यज्ञ के पशु के अंगों को देवताओं को समर्पित करने के उपयुक्त मन्त्र कहो। वह तब इस मन्त्र को दोहराता है : हे अग्नि ! तुम प्रथम मनोत हो।"

अब पशु के मांस के बंटवारे का प्रश्न शेष रह गया। इस विषय में "अत्रेय" ब्राह्मण का निर्णय इस प्रकार है :—

[2]"अब बलि के पशु के भिन्न-भिन्न अंगों के (पुरोहितों में) बांटे जाने का प्रश्न उपस्थित होता है। हम इसका वर्णन करेंगे। जबड़े की दोनों हड्डियाँ और जिह्वा प्रस्तोता को दी जानी चाहिये, बाज की शकल में छाती उद्गाता को, गला और तालु प्रतिहर्ता को, कमर के नीचे का दाहिना ओर का हिस्सा होतृ को, बायाँ ब्रह्मा को, दाईं जांघ मैत्रावरुण को, बाईं ब्राह्मणाच्छंसी को, कंधे के साथ की दाईं ओर अध्वर्यु को, बाईं मन्त्रोच्चारण में साथ देने वालों (उपगाताओं) को, बायाँ कन्धा प्रतिपस्थाना को, दायें बाजू का निचला हिस्सा नेष्टा (नेष्टृ) को, बायें बाजू का निचला हिस्सा

---

[1] मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यानुब्रूहीत्याहाध्वर्युः, इति।
त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति सूक्तमन्वाह, इति।

[2] अथातः पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्यामः, इति।

हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः श्येनं वक्ष उद्गातुः कण्ठः काकुदः प्रतिहर्तुर्दक्षिणा श्रोणिर्होतुः सव्या ब्रह्मणो दक्षिणं सक्थि मैत्रावरुणस्य सव्यं ब्राह्मणाच्छंसिनो दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः सव्यमुपगातॄणां सव्योंऽसः प्रतिप्रस्थातुर्दक्षिणं दोर्नेष्टुः सव्यं पोतुर्दक्षिण ऊरुरच्छावाकस्य सव्य आग्नीध्रस्य दक्षिणो बाहुरात्रेयस्य सव्यः सदस्यस्य सदं चानूकं च गृहपतेर्दक्षिणौ पादौ गृहपतेर्व्रतप्रदस्य सव्यौ पादौ गृहपतेर्भार्यायै व्रतप्रदस्यौष्ठ एनयोः साधारणो भवति तं गृहपतिरेव प्रशिंष्याज्जाघनीं पत्नीभ्यो हरन्ति तां ब्राह्मणाय दद्युः स्कन्ध्याश्च मणिकास्तिस्रश्च कीकसा ग्रावस्तुतस्तिस्रश्चैव कीकसा अर्धं च वैकर्तस्योन्नेतुरर्धं चैव वैकर्तस्य क्लोम च शमितुस्तद्ब्राह्मणाय दद्याद्यद्यब्राह्मणः स्याच्छिरः सुब्रह्मण्यायै यः श्वः सुत्यां प्राह तस्याजिनमिळा सर्वेषां होतुर्वा, इति।

पोता (पोतृ) को, दाहिनी जांघ का ऊपर का हिस्सा अच्छावाक को, बाईं जांघ का ऊपर का हिस्सा अग्निधर का, दायें बाजू का ऊपर का हिस्सा आत्रेय को, बायें बाजू का ऊपर का हिस्सा सदस्य को, पीछे की हड्डी और अण्डकोष (यज्ञ करने वाले) गृहस्थ को, दायाँ पाँव भोज देने वाले गृहपति को, बायाँ पाँव भोज देने वाले गृहपति की भार्य्या को, ऊपर का होंठ गृहपति और उसकी भार्य्या के समानाधिकार में है, जिसका बंटवारा गृहपति करेगा। पशु की पूँछ वे भार्य्याओं को देते हैं. किन्तु यह उन्हें किसी ब्राह्मण को ही देनी चाहिये, गर्दन पर मणिक और तीन कीकस ग्रावस्तुत को, तीनों कीकस और पीठ के मांसल हिस्से का अर्धांश (वैकर्त) उन्नेता को, गर्दन पर के मांसल हिस्से (क्लोम) को आधा हिस्सा वध करने वाले को। यदि वध करने वाला स्वयं ब्राह्मण न हो तो किसी ब्राह्मण को दे दे। सिर सुब्रह्मण्य को देना चाहिये जो कल सोम यज्ञ के समय (श्वः सुत्यां) बोला; सोम-यज्ञ में यज्ञ की बलि बने पशु का वह हिस्सा जो यज्ञ-भोज का है, वह सब पुरोहितों का है केवल होतृ के लिये ऐच्छिक है।

[1]"बलि के पशु के इन सब टुकड़ों की संख्या ३६ हैं। जिन श्लोकों से यज्ञ होता है प्रत्येक टुकड़ा उसके एक चरण का प्रतीक है। बृहती छन्द में ३६ शब्द-खण्ड होते हैं; और दिव्य लोक बृहती की प्रकृति के हैं। इस प्रकार पशु के ३६ हिस्से करके वे इस लोक तथा स्वर्ग में जीवन लाभ करते हैं; और (इस तथा उस लोक) दोनों में प्रतिष्ठित होकर वे वहाँ चलते हैं।

[2]"जो उपरोक्त रीति से पशु (के मांस) का बँटवारा करते हैं,

---

[1] ता वा एताः षट्त्रिंशतमेकपदा यज्ञं वहन्ति षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती। बार्हताः स्वर्गा लोकाः, प्राणेष्वेव तत्स्वर्गेषु च लोकानाप्नुवन्ति प्राणेषु चैव तत्स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति, इति

[2] स एष स्वर्ग्यः पशुर्य एनमेवं विभजन्ति, इति।

अथ येऽतोऽन्यथा तद्यथा सेलगा वा पापकृतो वा पशुं विमथ्नीरंस्तादृक्तत्, इति।

उनके लिये यह स्वर्ग-सोपान बन जाता है। लेकिन जो इससे उलटा बाँटते हैं वे गुण्डे और शरारती हैं, जो केवल अपनी मांसाहार की तृष्णा के लिये पशु की बलि देते हैं। बलि के पशु का यह विभाग श्रत के पुत्र देवभाग का आविष्कार है। जब वह इस जीवन से जा रहा था तो उसने इस रहस्य को किसीको नहीं सौंपा। किंतु किसी अलौकिक देव-दूत ने बभ्रु के पुत्र गिरिजा को सब समाचार कह दिया। उसके समय से आदमी इसका अध्ययन करते हैं।"

ऐतरेय ब्राह्मण में जो कुछ कहा गया है उससे दो बातें असन्दिग्ध तौर पर स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि बलि के पशु के सारे के सारे मांस को ब्राह्मण ही ले लेते थे। एक जरा-से टुकड़े के अतिरिक्त वे यज्ञ करने वाले (गृहस्थ) को भी कुछ न लेने देते थे। दूसरी यह कि पशुओं का वध करने के लिये ब्राह्मण स्वयं कसाई का काम करते थे। सिद्धांत की दृष्टि से यज्ञ में जिस की पशु बलि दी गई है, ब्राह्मणों को उसका मांस नहीं खाना चाहिये। यज्ञ का आधारभूत सिद्धांत है कि आदमी देवताओं के प्रति अपने आपको बलिदान करता है। वह अपनी जान बचाने के लिये ही अपनी बजाय पशु की बलि देता है। इसका यह मतलब हुआ कि जो पशु का मांस खाता है, वह आदमी का ही मांस खाता है, क्योंकि यहाँ पशु आदमी का ही स्थानापन्न है। यह मत ब्राह्मणों के स्वार्थ के लिये बड़ा घातक था। ब्राह्मण बलि के पशु का सारा मांस आप ही हड़पना चाहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ने जब यह देखा कि इस मत को स्वीकार करने से ब्राह्मणों के हाथ से बलि के पशु के मांस के निकल जाने का खतरा है, तो उसने प्रयत्नपूर्वक इस मत को सीधे-सीधे अस्वीकार करके उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है—

तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौत ऋषिर्देवभागो विदां चकार तामु हाप्रोच्यैव वा-स्माल्लोकादुच्चक्राम, इति।

तामु ह गिरिजाय बाभ्रव्यायामनुष्यः प्रोवाच ततो हैनामेतदर्वाङ् मनुष्या अधीयतेऽधीयते ॥ १ ॥ इति

[1]"जो आदमी यज्ञ के रहस्यों में दीक्षित होता है, वह अपने आपको सब देवताओं के प्रति बलिदान कर देता है। अग्नि सब देवताओं का प्रतिनिधि है, और सोम सब देवताओं का प्रतिनिधि है। जब वह (यज्ञ-कर्ता) पशु को अग्नि-सोम की बलि चढ़ाता है, तो वह अपने आपको सभी देवताओं के प्रति बलिदान होने से मुक्त कर लेता है।

[2]कहने वाले कहते हैं : अग्नि-सोम को बलि दिये गये पशु का मांस न खाओ, जो कोई इस पशु का मांस खाता है, वह आदमी का मांस खाता है, क्योंकि यज्ञकर्ता पशु को बलि चढ़ा कर अपने आपको बलिदान होने से बचाता है। लेकिन इस (मत) की ओर ध्यान देना अनावश्यक है।"

इन बातों के रहते, अब यह सिद्ध करने के लिये किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि ब्राह्मण न केवल गोमांसाहारी थे, किंतु कसाई भी थे।

तब ब्राह्मणों ने पैंतरा क्यों बदला ? हम उनके पैंतरा बदलने की बात के दो हिस्से करते हैं। पहला, उन्होंने गोमांसाहार क्यों छोड़ दिया ?

(२)

जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है अशोक ने गो-हत्या को कभी कानून से बन्द नहीं किया था। यदि किया भी होता, तो एक बौद्ध नरेश के बनाये हुए कानून को ब्राह्मण कब मानने वाले थे।

क्या मनु ने गो-हत्या का निषेध किया ? यदि उसने किया, तो वह ब्राह्मणों के लिये मान्य होगा और ब्राह्मणों में इस परिवर्तन की सन्तोष-

---

१ सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते यो दीक्षतेऽग्निः सर्वा देवताः सोमः सर्वा देवताः स यदग्नीषोमीयं पशुमालभते सर्वाभ्य एव तद्देवताभ्यो यजमान आत्मानं निष्क्रीणीते, इति।

२ तदाहुर्नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात्पुरुषस्य वा एषोऽश्नाति योऽग्नीषोमीयस्य पशोरश्नाति यजमानो ह्येतेनाऽऽत्मानं निष्क्रीणीत, इति।

जनक व्याख्या भी समझा जा सकता है। मनुस्मृति में निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं—

> यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
> स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ५-४६ ॥

[जो प्राणियों को बाँधने, मारने या क्लेश देने की इच्छा नहीं करता, वह सब जीवों का हित चाहने वाला अत्यन्त सुख पाता है ॥ ५-४६ ॥]

> यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
> तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ५-४७ ॥

[जो किसी प्राणी को दुःख नहीं देता, वह जिस धर्म को मन से चाहता है, जो कर्म करता है, जिस परमार्थ पर ध्यान लगाता है, वह उसे अनायास ही प्राप्त होता है ॥ ५-४७ ॥]

> नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
> न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ५-४८ ॥

[प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता। पशुओं का वध करना स्वर्ग का कारण नहीं होता। इसलिये मांस खाना छोड़ देना चाहिये ॥ ५-४८ ॥

> समुत्पत्तिं हि मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
> प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ५-४९ ॥

[मांस का उत्पत्ति-क्रम (रज-वीर्य से) और प्राणियों का वध-बन्धन (निर्दयतामूलक) होता है। इस बात पर अच्छी तरह विचार कर सब प्रकार के मांस-भक्षण को त्याग देना चाहिये। ॥ ५-४९ ॥]

यदि इन श्लोकों को विधायक आज्ञायें स्वीकार कर लें तो इनसे ही इस बात की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है कि ब्राह्मण मांसाहार छोड़ कर शाकाहारी क्यों बन गये ? लेकिन इन श्लोकों को कानून के रूप में विधायक आज्ञायें स्वीकार करना असम्भव है। या तो ये केवल प्रेरणायें हैं अथवा

प्रक्षेप हैं, जो ब्राह्मणों के शाकाहारी बन जाने के बाद उनके इस कृत्य की प्रशंसा में बाद में डाल दिये गये। यह दूसरी बात ही ठीक है, यह मनुस्मृति के इस पाँचवें परिच्छेद में ही आने वाले दूसरे श्लोकों से सिद्ध होता है—

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ५-२८ ॥

[ब्रह्मा ने यह सब प्राण के लिये अन्न ही कल्पित किया है। स्थावर (अन्न फल आदि) और जंगम (पशु पक्षी आदि) सब प्राण के ही भोजन हैं ॥ ५-२८ ॥]

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ ५-२९ ॥

[चरों का अन्न अचर (तृण आदि), दाढ़ वालों का बिना दाढ़ के (हिरन आदि), हाथ वालों का बिना हाथ के जीव (मछली आदि) और शूरों का अन्न भीरु (डरपोक) हैं ॥ ५-२९ ॥]

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्यांश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ५-३० ॥

[खाने वाला जीव खाने योग्य प्राणियों को प्रतिदिन खाकर भी दोष-भागी नहीं होता; क्योंकि ब्रह्मा ने ही खाद्य और खाने वाले दोनों का निर्माण किया है ॥ ५-३० ॥]

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने,
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५-५६ ॥

[मांस खाने, मद्य पीने और मैथुन में दोष नहीं है; क्योंकि यह मनुष्यों की प्रवृत्ति है, परन्तु इससे निवृत्त होना महाफलदायी है ॥५-५६॥]

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया,
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ ५-२७ ॥

[मन्त्रों द्वारा पवित्र किया मांस खाना चाहिये और शास्त्रोक्त-

विधि में मांस खाना चाहिये और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर ॥ ५-२७ ॥]

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ५-३१ ॥

[यज्ञ के निमित्त मांस-भक्षण को दैवी-विधि कहा गया है । इसके विरुद्ध मांस-भक्षण की प्रवृत्ति राक्षसी-विधि है ॥ ५-३१ ॥]

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ५-३२ ॥

[खरीद कर या स्वयं कहीं से लाकर अथवा किसी का दिया हुआ मांस देवताओं और पितरों को अर्पित कर खाये तो खाने वाला दोषी नहीं होता ॥ ५-३२ ॥]

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः,
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ५-४२ ॥

[वेद के तत्त्व को जानने वाला द्विज इन पूर्वोक्त मधुपर्कादि कर्मों में पशु की हिंसा करता हुआ, अपने को और पशु को उत्तम गति प्राप्त कराता है ॥५-४२ ॥[

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ५-३९ ॥

[स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये और सब यज्ञों को समृद्धि के लिये पशुओं का निर्माण किया है, इसलिये पशु का वध अहिंसा ही है ॥५-३९ ॥]

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा,
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ५-४० ॥

[ओषधियाँ, पशु, वृक्ष, कछुए आदि और पक्षी, ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम योनि में जन्म ग्रहण करते हैं ॥५-४०॥

मनु इससे आगे जाते हैं और मांसाहार अनिवार्य ठहराते हैं । निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है—

निग्रुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ५-३५ ॥

[यथाविधि नियुक्त होने पर जो मनुष्य मांस नहीं खाता, वह मरने के अनन्तर इक्कीस जन्म तक पशु होता है ॥ ५-३५ ॥]

यह स्पष्ट है कि मनु ने मांसाहार का निषेध नहीं किया। मनु ने गो-हत्या का भी निषेध नहीं किया। यह मनु से ही सिद्ध है। पहली तो बात यही है कि मनुस्मृति में गौ का उल्लेख केवल उन नियमों की सूची में मिलता है. जो मनु के अनुसार स्नातकों के लिये मान्य होने चाहिये। वे नीचे दिये गये हैं—

१. गौ का सूँघा हुआ भोजन एक स्नातक के लिये निषिद्ध है।[१]

२. जिस रस्सी में बछड़ा बँधा हुआ हो, उसका लांघना एक स्नातक के लिये निषिद्ध है।[२]

३. गो-ब्रज में लघु-शंका करना स्नातक के लिये निषिद्ध है।[३]

४. गौ की ओर मुँह करके मल-मूत्र विसर्जन करना स्नातक के लिये निषिद्ध है।[४]

५. गो-ब्रज में प्रविष्ट होने पर स्नातक को चाहिये कि अपना दायाँ हाथ नंगा कर ले।[५]

६. यदि कोई गौ अपने बछड़े को दूध पिला रही हो, तो उसमें बाधा डालना अथवा किसी को उसकी सूचना देना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[६]

७. गौ पर चढ़ना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[७]

८. गौ की हिंसा करना अर्थात् उसे दुःख देना स्नातक के लिये निषिद्ध है।

९. जूठे मुँह गौ को स्पर्श करना निषिद्ध है।

---

(१) ४—२०९, (२) ४—३८, (३) ४—४५, (४) ४—४८, (५) ४—५८, (६) ४—५९ (७) ४—७१ (८) ४—१६२, (९) ४—१४२

इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि मनु गौ को पवित्र पशु नहीं मानते थे। दूसरी ओर वह उसे अपवित्र पशु मानते थे जिसके स्पर्श से संस्कारी अपवित्रता होती थी।

मनुस्मृति में ऐसे श्लोक हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उसमें गोमांस-भक्षण का निषेध नहीं किया था। इस सम्बन्ध में तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक का उल्लेख किया जा सकता है। यह इस प्रकार है—

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥३॥

[जो स्वधर्माचरण से प्रसिद्ध हो, जिसे पिता से धर्म-दायाद मिला हो, उसे अच्छे आसन पर बिठा, पुष्प माला पहना, गौ (मधु-पर्क) से पूजा करनी चाहिये ॥ ३—३ ॥]

प्रश्न उठता है कि मनु एक स्नातक को गौ देने की सिफारिश क्यों करता है ? स्पष्ट ही है जिसमें वह मधुपर्क बना सके। यदि ऐसा हो तो इसका यही अर्थ है कि मनु को ब्राह्मणों के गो-मांस-भक्षण का ज्ञान था। और वह उसे मना नहीं करता था।

दूसरा उल्लेख उस चर्चा का है जो मनु ने पशुओं के खाद्य तथा अखाद्य मांस के बारे में की है। पाँचवें अध्याय के १८ वें श्लोक में लिखा है—

श्वविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा,
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतो दतः ॥ १८ ॥

पंचनखियों में सेध, साही, गोह, गैंडा, कछुआ, खरहा तथा एक ओर दाँत वाले पशुओं में ऊँट को छोड़कर बकरे आदि पशु भक्ष्य हैं,—ऐसा कहा है ॥ ५—१८ ॥]

इस श्लोक में मनु ने ऐसे घरेलू पशुओं का मांस, जिनके एक ही जबड़े में दाँत होते हैं, उनमें ऊँट ही नहीं, गौ भी है। किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि मनु गौ को अपवाद स्वरूप नहीं स्वीकार करता। उसका स्पष्ट अर्थ है कि मनु को गो-मांसाहार में कुछ आपत्ति नहीं थी।

मनु ने गो-हत्या को एक अपराध नहीं ठहराया। उसकी दृष्टि में पापकर्म दो प्रकार के हैं (१) महान-पातक, (२) उप-पातक। महान-पातकों में से कुछ ये हैं :—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ११-५४ ॥

[ब्रह्म-हत्या, मद्यपान, चोरी, गुरु-पत्नी-गमन, ये (चारों) महा-पातक कहे गये हैं और इन पातकियों का संसर्ग भी (महापातक) है ॥ ११—५४ ॥]

उपपातक अर्थात् मामूली अपराधों में से कुछ ये हैं —

गोवधोऽयाज्य-संयाज्यपारदार्यात्म विक्रयाः,
गुरु-मातृ-पितृ-त्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ११-५९ ॥

गो-वध, जाति और कर्म से दूषित मनुष्यों को यज्ञ कराना, पर-स्त्री-गमन, अपने को बेचना; गुरु, माता, पिता (की सेवा) का त्याग, स्वाध्याय का त्याग, (स्मार्त), अग्नि का त्याग और पुत्र के (भरण-पोषण) का त्याग। [॥ ११—५९ ॥]

इससे यह स्पष्ट है कि मनु की दृष्टि में गो-हत्या केवल एक मामूली पाप था—उपपातक। यह निन्दनीय तभी था जब गौ की हत्या बिना किसी उचित तथा पर्याप्त कारण के हो। और यदि ऐसा न हो तो भी यह कोई बहुत घृणित कर्म नहीं था। याज्ञवल्क्य का मत भी ऐसा ही था।[1]

इस सब से यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मण पीढ़ी दर पीढ़ी गोमांसाहारी बने रहे। उन्होंने गोमांसाहार क्यों छोड़ दिया? वे अवश्य दूसरी सीमा पर चले गये। उन्होंने गोमांस ही नहीं मांस मात्र छोड़ दिया और शाकाहारी बन गये? ये एक साथ दो क्रांतियाँ हो गईं। जैसा दिखाया गया है उन्होंने यह अपने देवी स्मृतिकार मनु की शिक्षा के कारण नहीं किया है, ब्राह्मणों ने ऐसा क्यों किया? क्या यह किसी सिद्धान्त के कारण? अथवा इसका श्रेय युद्धनीति को ही दिया जायगा?

१. याज्ञवल्क्य—स्मृति १-२२७, ३-२३४।

इस प्रश्न के दो उत्तर दिये गये हैं। एक उत्तर जनता पर बड़ा गौ की पूजा उस अद्वैत-दर्शन का परिणाम है, जिसकी शिक्षा है कि थे और विश्व में एक 'ब्रह्म' व्याप्त है और इसलिए सारा जीवन—चाहे वह मनुष्य का हो, चाहे पशु का हो—पवित्र है। यह व्याख्या स्पष्ट ही है कि असन्तोष-जनक है। पहले तो इसका वास्तविकता से कोई मेल नहीं। वेदान्त-सूत्र, जो 'ब्रह्म' की एकता का उपदेश देते हैं, यज्ञों के लिए पशु-हत्या का निषेध नहीं करते। यह दूसरे अध्याय के २८ वें सूत्र से स्पष्ट है। दूसरी बात, यदि यह परिवर्तन वेदान्त के आदर्शों को आचरण में उतारने का परिणाम है तो फिर यह गौ पर ही रुकना कैसा? यह दूसरे सभी पशुओं पर भी लागू होना चाहिये था।

दूसरी व्याख्या पहली की भी अपेक्षा अधिक 'मौलिक' है। उसके अनुसार ब्राह्मण के जीवन के इस परिवर्तन का कारण आत्मा का पुनर्जन्म-ग्रहण करने का सिद्धान्त है। इस व्याख्या का भी वास्तविकता से कोई मेल नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के पुनर्जन्म ग्रहण करने के सिद्धांत का प्रतिपादन है। तो भी उसका कहना है कि यदि आदमी यह चाहता है कि उसे मेधावी पुत्र उत्पन्न हो तो उसे वृषभ या बैल के मांस के साथ भात और घी मिलाना चाहिये। फिर, इसका भी क्या कारण है कि उपनिषदों में वर्णित इस सिद्धांत का मनु के समय अर्थात् लगभग ४०० वर्ष बाद तक ब्राह्मणों के आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तीसरे, यदि आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण ब्राह्मण शाकाहारी बन गये तो अब्राह्मण भी क्यों नहीं बन गये?

मेरी दृष्टि में यह ब्राह्मणों की युद्ध-नीति का एक अङ्ग है कि वे गो-मांसाहारी न बने रह कर गो-पूजक बन गये। इस 'गो-पूजा' के रहस्य का मूल बौद्धों और ब्राह्मणों के संघर्ष में तथा उन उपायों में खोजना होगा जो ब्राह्मणों ने बौद्धों से बाजी मार ले जाने के लिये किये। बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष भारतीय इतिहास की एक निर्णायक घटना है। इस वास्तविकता को बिना अङ्गीकार किये हिन्दू-धर्म के कुछ अंगों की व्याख्या हो ही नहीं

सकती। दुर्भाग्यवश भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों की दृष्टि से इस बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष का महत्व एकदम ओझल रहा है। वे जानते हैं कि ब्राह्मण-वाद नाम की चीज़ रही है। लेकिन वे इस बात से एकदम अपरिचित प्रतीत होते हैं कि ये मत लगभग ४०० वर्ष तक एक दूसरे पर बाजी मार ले जाने के लिये संघर्ष करते रहे और भारतीय धर्म, समाज तथा राजनीति पर उनके इस संघर्ष की अमिट छाप विद्यमान है।

यहाँ सारे संघर्ष की कथा के लिये स्थान नहीं है। दो चार महत्व की बातों का उल्लेख किया जा सकता है। एक समय था जब अधिकांश भारतवासी बौद्ध थे। यह सैकड़ों वर्षों तक भारतीय जनता का धर्म रहा। इसने ब्राह्मण-वाद पर ऐसे आक्रमण किये जैसे इससे पहले किसी ने नहीं, किये थे। ब्राह्मण-वाद अवनति पर था और यदि एकदम अवनति पर नहीं तो भी उसे अपनी रक्षा की पड़ गई थी। बौद्ध धर्म के विस्तार के कारण ब्राह्मणों का तेज न राजदरबार में रहा था और न जनता में। वे इस पराजय से पीड़ित थे जो उन्हें बौद्ध धर्म के हाथों मिली थी और अपनी शक्ति तथा तेज को पुनः प्राप्त करने के लिये हर प्रकार से प्रयत्नशील थे। जनता के मन पर बौद्ध-धर्म का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ चुका था और वह उसके इतना अधिक काबू में थी कि ब्राह्मणों के लिये और किसी भी तरह बौद्ध-धर्म का मुकाबला कर सकना एकदम असम्भव था उसका एक ही उपाय था कि वह बौद्धों के जीवन के रंग-ढंग को अपनायें और इस मामले में उनसे भी बढ़कर एकदम सिरे पर जा पहुँचें। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बौद्धों ने बुद्ध की मूर्तियाँ तथा स्तूप बनाने आरम्भ किये। ब्राह्मणों ने इसका अनुकरण किया। उन्होंने अपने मन्दिर बनाये और उनमें शिव, विष्णु, राम तथा कृष्ण आदि की मूर्तियाँ स्थापित कीं। उद्देश्य इतना ही था कि बुद्ध-मूर्ति-पूजा से प्रभावित जनता को किसी न किसी तरह अपनी ओर आकर्षित करें। इस प्रकार जिन मन्दिरों और मूर्तियों के लिये हिन्दू धर्म में कोई स्थान नहीं था, उनके लिये स्थान बना। बौद्धों ने उस ब्राह्मण-धर्म को, जिसमें पशु-बलि वाले और विशेष रूप से गो-वध वाले यज्ञादि होते थे,

त्याग दिया था। गो-वध के बारे में बौद्धों की आपत्ति का जनता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। दो कारण थे—एक तो वे लोग कृषि-प्रधान थे और दूसरे गौ इतनी उपयोगी। अधिक सम्भावना यही है कि उस समय ब्राह्मण गो-घातक समझे जाकर घृणा के पात्र बन गये थे, ठीक वैसे ही जैसे अतिथि भी 'गो-घ्न' बन जाने के कारण घटनाओं द्वारा घृणित समझे जाने लगे थे। क्योंकि वह जब भी कभी आता था, तभी उसके सम्मान में गौ की हत्या करनी पड़ती थी। ऐसी परिस्थिति में अपनी स्थिति सुधारने के लिये ब्राह्मण यज्ञ-रूप में जो "पूजा" करते थे और उसके साथ जो गो-वध होता था उसे छोड़ देने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकते थे।

गोमांसाहार छोड़ने में ब्राह्मणों का उद्देश्य बौद्ध भिक्षुओं से उनकी श्रेष्ठता छीन लेना ही था—यह बात ब्राह्मणों के शाकाहारी बन जाने से सिद्ध होती है। नहीं तो ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बना? इसका उत्तर यही है कि बिना शाकाहारी बने वह पुनः उस जमीन को प्राप्त कर ही नहीं सकता था जो बौद्ध धर्म के प्रसार के फलस्वरूप उसके पाँव के नीचे से खिसक चुकी थी। इस सम्बन्ध में यह बात याद रखने की है कि बौद्ध की तुलना में एक बात को लेकर ब्राह्मण जनता की दृष्टि में बहुत ओछा पड़ता था। वह बात पशु-वध थी, जो कि ब्राह्मण-वाद का सार थी और जिसका बौद्ध-धर्म एकदम विरोधी था। यह स्वाभाविक है कि ऐसी जनता में, जो कृषि पर निर्भर करती हो, बौद्ध धर्म के प्रति आदर और उस ब्राह्मण-धर्म के प्रति घृणा हो जिसमें अन्य पशुओं के साथ गौओं और बैलों का भी वध होता हो। अपने विगत सम्मान को बचाने के लिए ब्राह्मण क्या कर सकते थे। बौद्ध भिक्षुओं से भी एक कदम आगे जाकर न केवल गोमांस-भक्षण ही छोड़ना किन्तु शाकाहारी बन जाना। शाकाहारी बनने में ब्राह्मणों का यही उद्देश्य था—यह कई तरह से सिद्ध हो सकता है।

यदि ब्राह्मणों ने पशु-यज्ञ को बुरा मान कर सिद्धान्त की दृष्टि से अपना आचरण बदला होता; तो उनके लिये केवल इतना पर्याप्त था कि वे यज्ञों के लिये पशुओं का वध मना कर देते। उनके लिये शाकाहारी

बनना आवश्यक न था। वे शाकाहारी बन कर रहे, इससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी दृष्टि गहरी थी, और एक दूसरी तरह भी उनके लिये शाकाहारी बनना एकदम अनावश्यक था; क्योंकि बौद्ध भिक्षु ही शाकाहारी नहीं थे। इस कथन से कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है; क्योंकि सामान्य धारणा है कि अहिंसा और शाकाहार में आवश्यक तथा अनिवार्य सम्बन्ध है। यह सामान्य विश्वास है कि बौद्ध भिक्षु मांस-स्पर्श नहीं करते रहे होंगे। लेकिन यह एक गलती है। वास्तविक बात यह है कि भिक्षु त्रिकोटी-परिशुद्ध (तीन प्रकार से शुद्ध) मछली-मांस ग्रहण कर सकता था। आगे चल कर यह पाँच प्रकार का हो गया। चीनी यात्री हुवान् च्वांग इससे परिचित था, उसने मांस के शुद्ध प्रकारों को सां-चिंग कहा है। श्री थामस वाल्टन ने भिक्षुओं में इस प्रथा की उत्पत्ति की इस प्रकार व्याख्या की है। उसकी कही कथा के अनुसार—

"बुद्ध के समय में वैशालीसिंह नाम का एक धनी सेनापति था, जिसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। वह भिक्षु-संघ का उदार दायक बन गया और भिक्षुओं को मांस-भोजन की कमी न होने देता था। जब यह बाहर पता लगा कि भिक्षु इस प्रकार का तैयार किया हुआ भोजन ग्रहण कर लेते हैं, तो तैर्थिकों ने उनकी निन्दा करनी शुरू की। जो संयमी तपस्वी भिक्षु थे, जब उन्होंने यह सुना तो भगवान् को सूचना दी। भगवान् ने भिक्षुओं को इकट्ठा किया। जब वे इकट्ठे हुए तो भगवान् ने उन्हें सम्बोधन करके कहा—भिक्षुओ! किसी ऐसे पशु का मांस नहीं खाना चाहिये, जिसे तुमने देखा हो कि तुम्हारे लिये मारा गया है, जिसके बारे में तुमने सुना हो कि तुम्हारे लिये मारा गया है।" किन्तु उन्होंने भिक्षुओं को त्रि-कोटि परिशुद्ध मत्स्य-मांस की अनुज्ञा दे दी अर्थात् ऐसे पशु के मांस की जिसको न देखा हो कि हमारे लिये मारा गया हो, न सुना हो कि हमारे लिये मारा गया है और न किसी प्रकार का सन्देह ही उत्पन्न हुआ हो, कि हमारे लिये मारा गया है। पालि और सु-फेन विनय (पिटक) के अनुसार बुद्ध और भिक्षु-संघ को मध्यान्ह-भोजन दिया गया था। उस भोजन के

लिये ही एक बैल की लाश की व्यवस्था की गई थी। निर्ग्रन्थों ने भिक्षुओं की निन्दा की। बुद्ध ने यह त्रि-कोटि-परिशुद्ध का नया नियम बनाया। अब से जो मांस-भोजन भिक्षु कर सकते थे, वह 'त्रिकोटि-परिशुद्ध' अथवा 'त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस' कहलाने लगा। इसे थोड़े में 'अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित' अथवा चीनी अनुवाद के ढंग पर 'मेरे लिये मारा गया, ऐसा न देखा, न सुना, न सन्देह हुआ' कहा गया। तब दो और तरह का मांस भिक्षुओं के लिये नियमानुकूल ठहराया गया—जिस पशु की स्वाभाविक मृत्यु हो गई हो, तथा जो किसी शिकारी-पक्षी अथवा अन्य किसी जंगली पशु द्वारा मारा गया हो। इस प्रकार पांच तरह का ऐसा मांस हुआ, जिस का कोई बौद्ध स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग कर सकता था। तब यह 'अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशंकित' एक जाति हो गई और उसी में 'स्वाभाविक मृत्यु' तथा 'पक्षी-हत' को मिला देने से सांग-चिन्ह बन जाता है।

जब बौद्ध-भिक्षु मांस खाते थे तो ब्राह्मणों को उसे छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। तब ब्राह्मण मांसाहार छोड़ कर शाकाहारी क्यों बन गये। इसका कारण इतना ही था कि वह जनता की दृष्टि में बौद्ध-भिक्षुओं के साथ समान तल पर नहीं खड़ा होना चाहते।

यदि ब्राह्मण केवल यज्ञ करना और उसमें गो-वध करना छोड़ देते तो इसका केवल एक सीमित परिणाम होता। अधिक से अधिक इससे ब्राह्मण और बौद्ध समान तल पर खड़े हो जाते। यही बात तब होती यदि वे मांसाहार के सम्बन्ध में बौद्ध-भिक्षुओं का अनुकरण करते। इससे ब्राह्मणों को अपने आपको बौद्धों से श्रेष्ठ करने का अवसर नहीं मिलता था, जो कि उनकी आकांक्षा थी। यज्ञों में गो-वध का विरोध करके बौद्धों ने जनता के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण उन्हें इस स्थान से पदच्युत करना चाहते थे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये ब्राह्मणों को उस दुस्साहसी नीति का अनुकरण करना पड़ा, जिसमें परिणाम की ओर देखा ही नहीं जाता। यह 'अति' को 'अति' से पराजित करने की नीति है। यह वह युद्ध-नीति है, जिसका उपयोग वाम-पक्षियों को हराने के लिये सभी

दक्षिण पन्थी करते हैं। बौद्धों को हराने का एक ही तरीका था कि उनसे एक कदम आगे जाकर शाकाहारी बन जायें।

इस मत के समर्थन में कि ब्राह्मणों ने जो गो-पूजा आरम्भ की, जो गो-मांसाहार त्याग कर शाकाहारी बन गये, वह बौद्धों को परास्त करने के लिये ही किया—एक और प्रमाण दिया जा सकता है। यह वह तिथि है, जब गो-वध एक महान् पातक बन गया। यह सर्व-विदित है कि अशोक ने गो-वध को एक अपराध नहीं ठहराया था। बहुत लोग उससे यह आशा रखते हैं कि गो-वध बन्द करने के लिये उसे आगे बढ़ कर कदम उठाना चाहिये था। प्रो० विन्सट् स्मिथ को यह बात आश्चर्यकर लगती है, लेकिन इसमें आश्चर्य की कुछ भी बात नहीं है।

बौद्ध-धर्म सामान्य रूप से पशु-बलि का विरोधी था। इसकी गौ के लिये ही कोई विशेष ममता न थी। इसलिये अशोक को इस बात की कोई खास आवश्यकता नहीं थी; कि वह 'गो-रक्षा' के लिये कानून बनाये। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि गो-वध' को 'महा-पातक' घोषित करने वाले गुप्त-नरेश हुए, जो गुप्त-नरेश हिन्दू-धर्म के बड़े पुरस्कर्ता थे। उस हिन्दू धर्म के, जो यज्ञों के लिये गो-वध की अनुज्ञा देता है। डा० भण्डारकर का कथन है:—

"हमारे पास इस बात का शिलालेखों का अकाट्य प्रमाण है कि पाँचवीं शताब्दी के आरम्भिक हिस्से में गो-वध करना एक भयानक पाप माना जाता था, उतना ही भयानक जितना भयानक किसी ब्राह्मण को मार देना। हमारे पास ४६५ ई० का एक ताम्र-पत्र लेख है, जो कि गुप्त राज-वंश के स्कंद-गुप्त के राज्यकाल का है। यह एक दान-पत्र है, जिसके अन्तिम श्लोक में लिखा है:—जो भी इस दान में, जो दे दिया गया है, हस्तक्षेप करेगा, वह गो-हत्या, गुरु-हत्या अथवा ब्राह्मण-हत्या के पाप का भागी होगा। स्कन्द-गुप्त के पितामह चन्द्रगुप्त द्वितीय का भी एक लेख है जो गो-हत्या को ब्रह्म-हत्या के ही समान पाप मानता है। इसमें ६३ गुप्त-संवत्सर दिया गया है, जो कि ४१२ ई० के बराबर होता है। मध्य-प्रान्त के

साँची के प्रसिद्ध बौद्ध-स्तूप के वेष्टन में खड़ा हुआ है। इसमें चन्द्रगुप्त के एक अधिकारी के दान का भी वर्णन है। इसका अन्त इस प्रकार होता है, जो भी इस व्यवस्था को गड़बड़ करेगा उसे 'गो-हत्या', 'ब्राह्मण-हत्या' अथवा 'पंच-आनन्तर्य' का पाप लगेगा। इस कथन का उद्देश्य है, गड़बड़ करने वाला चाहे ब्राह्मणधर्म का अनुयायी हो, चाहे बौद्धधर्म का—दोनों को भयभीत करना। पाँच आनन्तर्य बौद्धों के पाँच महापातक हैं। वे हैं—मातृ-हत्या, पितृ-हत्या, अर्हत-हत्या, बुद्ध के शरीर का रक्त बहाना, भिक्षु-संघ में भेद पैदा करना। जिन महापातकों का ब्राह्मण-धर्मी को भय दिलाया जाता है, वे केवल दो हैं—गौ की हत्या और ब्राह्मण की हत्या। ब्राह्मण की हत्या तो स्पष्ट ही है कि महापातक है, क्योंकि जितनी भी स्मृतियाँ हैं, सभी में ब्राह्मण-हत्या को महापातक कहा गया है, किन्तु गो-हत्या को आपस्तम्ब, मनु, याज्ञवल्क्य और दूसरों ने केवल उपपातक ही माना है। किन्तु यहाँ इसे ब्रह्म-हत्या के साथ जोड़ देने से और दोनों को बौद्धों के आनन्तर्यों के साथ समानता का दर्जा दे दिए जाने से यह स्पष्ट है कि पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में गो-हत्या को महापातकों की श्रेणी में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार गो-हत्या कम से कम एक शती पहिले 'महापातक' गिनी जाने लगी होगी अर्थात् चौथी शती के आरम्भ में।"

प्रश्न उठता है कि एक हिन्दू-नरेश को क्या पड़ी थी कि वह गो-वध के विरुद्ध अर्थात् मनु के नियमों के विरुद्ध नियम बनाता ? उत्तर यही है कि ब्राह्मणों के लिये यह अनिवार्य हो गया था कि बौद्ध-भिक्षुओं पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये वह वैदिक-धर्म के अपने एक अंश से हाथ धोयें। यदि हमारा यह विश्लेषण ठीक है, तो यह स्पष्ट है कि गो-पूजा बुद्ध धर्म और ब्राह्मण-धर्म के संघर्ष का परिणाम है, यह एक साधन था, जिसका ब्राह्मणों ने अपनी खोई हुई स्थिति को पुनः प्राप्त करने के लिये उपयोग किया।

चौदह

गोमांसाहार ने 'छितरे हुए आदमियों' को अछूत क्यों बना दिया ?

जब ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों ने गो-मांसाहार करना छोड़ दिया और छितरे हुए आदमियों का गो-मांसाहार जारी रहा, तो एक ऐसी स्थिति पैदा हो गई जो पुरानी स्थिति से भिन्न थी। अब फ़र्क यह पड़ गया कि पुरानी स्थिति में हर कोई गो-मांसाहार करता था। इस नई स्थिति में एक वर्ग ने खाना छोड़ दिया था, दूसरा वर्ग खाता था। यह भेद आँख में खटकने वाला था। इसे हर कोई देख सकता था। इतना होने पर भी इस भेद का परिणाम समाज का इतना बड़ा विभेद नहीं हो सकता था, जैसा इस अछूत-पन में दिखाई देता है। यह एक सामाजिक भेद रह सकता था। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जहाँ जाति के भिन्न-भिन्न अंग भिन्न भिन्न तरह का आहार ग्रहण करते हैं। एक जो चीज़ पसन्द करता है। दूसरा ठीक उसे ही नापसन्द करता है तो भी यह भेद दोनों में किसी प्रकार की दीवार नहीं खड़ी कर देता।

इसलिये कोई न कोई विशेष कारण होना चाहिये कि भारत में गो-मांसाहार ने बसी हुई जातियों और छितरे हुए आदमियों के बीच में क्यों एक दीवार खड़ी कर दी ? क्या कारण हो सकता है ? उत्तर है कि यदि गोमांसाहार का धर्म से कोई सम्बन्ध न जुड़ता—यह केवल व्यक्ति-गत रुचि-अरुचि का प्रश्न रहता—तो गोमांस खाने वालों और न खाने वालों में एक दीवार न खड़ी होती। दुर्भाग्य से मांसाहार एक सामान्य लौकिक बात न रह कर 'धर्म' का प्रश्न बन गया। यह इसलिये हुआ कि ब्राह्मणों ने गौ को एक 'पवित्र जानवर' बना दिया। इसी से गो-मांसाहार 'अधर्म' बन गया। यह छितरे हुए आदमी 'अधर्म' करने वाले होने से समाज-बहिष्कृत हो गये।

यह उत्तर उन लोगों के लिये बहुत स्पष्ट नहीं भी हो सकता जो समाज के जीवन में 'धर्म' के स्थान को नहीं समझते। वे पूछ सकते हैं; धर्म इस विभेद का कारण क्यों बना ? यदि धर्म की निम्नलिखित दो बातों को ध्यान में रखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

सबसे पहले हम 'धर्म' की परिभाषा लें। सभी 'धर्मों' पर लागू होने वाली एक व्यापक बात है। हर धर्म कुछ विश्वासों और आचरणों का एक स्वीकृत समूह होता है जो (१) 'धार्मिक' बातों से सम्बन्ध रखते हैं। और जो (२) उन सब बातों को मानने वाले लोगों की एक 'जाति' बना देते हैं। ज़रा दूसरी तरह कहें, तो प्रत्येक 'धर्म' में दो बातें रहती हैं। एक यह है कि धर्म को 'पवित्र' चीजों से पृथक् नहीं किया जा सकता। दूसरे यह है कि 'धर्म' एक सामूहिक वस्तु है जिसका समाज से पृथक्करण नहीं हो सकता।

धर्म का जो पहला अंश है वह यह मानकर चलता है कि जितनी भी वस्तुएँ हैं—चाहे भौतिक हों; चाहे अभौतिक चैतसिक हों, जो भी मनुष्य-विचार का विषय बनती हैं—वे दो स्पष्ट विभागों में विभक्त हैं; जो धार्मिक तथा अधार्मिक अथवा सामान्य रूप से लौकिक कहलाते हैं।

इससे 'धर्म' की परिभाषा हो जाती है। 'धर्म' का कर्तव्य समझने के लिये 'धर्म' के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

पहली बात जो ध्यान देने की है, वह यह है कि जो चीजें 'पवित्र' मान ली जाती हैं। वे लौकिक वस्तुओं से केवल ऊँचा स्थान या पद ही नहीं रखतीं। वे एकदम भिन्न हैं। 'पवित्र' और लौकिक वस्तुओं की 'जाति' ही एक नहीं हैं। दोनों में एकदम विरोध है। प्रो० दुर्खीम का कथन है—

'अच्छा' और 'बुरा' का परम्परागत विरोध इससे अधिक कुछ नहीं क्योंकि 'अच्छा' और 'बुरा' दोनों एक ही 'जाति' अर्थात् आधार के दो विरोधी तत्व हैं: ठीक वैसे ही जैसे, स्वास्थ्य और बीमारी एक ही जीवन-क्रम के दो भिन्न पहलू हैं। किन्तु मानव-मस्तिष्क ने 'पवित्र' और लौकिक की जो

कल्पना की है वह सर्वत्र दो भिन्न-भिन्न 'जातियों' की कल्पना है, एकदम दो भिन्न संसारों की जिनमें कुछ भी समान नहीं।"

जो अधिक उत्सुक सज्जन हैं वे कदाचित् यह जानना चाहेंगे कि संसार में मनुष्यों को किस चीज़ ने 'पवित्र' और 'लौकिक' की एक दूसरे के विरोधी तत्व के रूप में कल्पना करने पर मजबूर किया ? हमें इस चर्चा में यहाँ नहीं ही पड़ना है, क्योंकि हमारे तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह किसी तरह आवश्यक नहीं।

इसी प्रकरण में जो दूसरी बात ध्यान देने की है वह यह है कि 'पवित्र वस्तुओं' की संख्या निश्चित नहीं है। एक धर्म की 'पवित्र-वस्तुओं और दूसरे धर्म की 'पवित्र वस्तुओं' में अनन्त भिन्नता है। 'आत्मा' और 'परमात्मा' ही पवित्र वस्तुयें नहीं हैं। एक चट्टान, एक पशु, एक स्रोत, एक पत्थर का टुकड़ा, एक लकड़ी का टुकड़ा, एक घर—एक शब्द में कहें तो कोई भी चीज़ 'पवित्र' मानी जा सकती है।

'पवित्र' चीजों का सदैव 'निषेधों' से सम्बन्ध रहता है जिन्हें मना की हुई बातें (टैबूज़) कह सकते हैं। प्रो० दुरखीम को ही यदि हम फिर उद्धृत करें तो :—

"पवित्र चीजें वे हैं जिन की 'निषेधों' द्वारा रक्षा होती है और जिन्हें 'निषेध' पृथक् करते हैं; और 'लौकिक' चीजें वे हैं जिन पर ये 'निषेध' लागू हैं और जिन्हें पहली चीजों से दूर दूर रहना ही चाहिये।"

धार्मिक निषेध नाना रूप धारण कर लेते हैं। इनमें सब से महत्वपूर्ण निषेध सम्बन्ध का है। सम्बन्ध के निषेध का आधार यह है कि जो 'लौकिक' है उसका 'पवित्र' से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। 'स्पर्श' के अतिरिक्त और कई तरह से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। 'नज़र डालना' भी एक तरह का सम्बन्ध स्थापित करना है। यही कारण है कि खास खास अवस्थाओं में लौकिक (अपवित्र) आदमियों का 'पवित्र' चीजों को देखना वर्जित है। उदाहरण के लिये कुछ चीजें जो

'पवित्र' समझी जाती हैं उन्हें स्त्रियाँ नहीं देख सकतीं । शब्द (अर्थात् वह सांस, जो आदमी का हिस्सा है और आदमी से बाहर फैलता है) भी सम्बन्ध का दूसरा रूप है । इसलिये लौकिक (अपवित्र) के लिये पवित्र चीज़ों को सम्बोधन करना अथवा उनका उच्चारण करना वर्जित है। उदाहरण के लिये ब्राह्मण को ही वेद का उच्चारण करना चाहिये, शूद्र को नहीं । एक असाधारण सामीप्य का सम्बन्ध भोजन करने के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है । इसीलिये 'पवित्र' जानवरों अथवा 'पवित्र' तरकारी के खाने का निषेध किया गया है ।

जिन निषेधों का 'पवित्र' वस्तुओं से सम्बन्ध है उनके बारे में विवाद नहीं किया जा सकता । वे विवाद से परे की वस्तु हैं, और बिना किसी किन्तु-परन्तु के स्वीकार की जानी चाहियें । जो 'पवित्र' है वह 'अस्पृश्य' शब्द के विशिष्ट अर्थों में 'अस्पृश्य' है अर्थात् विवाद उसे किसी प्रकार स्पर्श ही नहीं कर सकता । जो कुछ किया जा सकता है वह इतना ही है कि 'पवित्र' का सम्मान किया जाय और उसकी आज्ञा मानी जाय ।

और अंतिम बात यह कि यह 'पवित्र' वस्तुओं-सम्बन्धी निषेध सभी पर लागू होते हैं । वे स्वयं-सिद्ध सत्य नहीं हैं । वे आज्ञायें हैं । उनका पालन होना चाहिये, और वह शब्द के सामान्य अर्थों में नहीं । वे अनुल्लंघनीय आज्ञायें हैं । उनका पालन न हो सकना एक 'जुर्म' से अधिक है । वह 'पाप' है ।

धर्म के क्षेत्र और गति-विधि को समझाने के लिये ऊपर का सारांश पर्याप्त होना चाहिये । उस विषय का अधिक विवेचन अनावश्यक है । जो 'पवित्र' है उसके सम्बन्ध के जो नियम हैं उन नियमों के कार्य करने के ढंग के विश्लेषण से यह बात किसी की भी समझ में आ जायगी कि गो-मांसाहार ने 'छितरे-हुए आदमियों' को क्यों अछूत बना दिया—इस प्रश्न का मेरा उत्तर ठीक है । मैंने जो उत्तर दिया है उस उत्तर की गहराई तक पहुँचने के लिये इतना ही आवश्यक है कि जो 'पवित्र' है उसके नियमों के

काम करने के ढंग का विश्लेषण गौ को 'पवित्र' वस्तु मानकर हृदयङ्गम कर लिया जाय। यह स्पष्ट हो जायेगा कि अछूतपन 'पवित्र पशु' गौ के न खाने के निषेध को ही तोड़ने का ही परिणाम है।

जैसा ऊपर कहा गया है ब्राह्मणों ने गौ को एक 'पवित्र' जानवर बनाया। उन्होंने जीवित और मृत गौ में किसी प्रकार का भेद करने की भी आवश्यकता नहीं समझी। गौ 'पवित्र' थी—चाहे जीवित हो, चाहे मृत। गो-मांसाहार केवल एक 'जुर्म' न था। यदि यह केवल एक 'जुर्म' होता तो इसका परिणाम केवल 'सजा' होती। गो-मांसाहार 'पाप' ठहराया गया। यदि कोई गौ को 'पवित्र' जानकर न माने तो वह 'पाप' का भागी होता था और उसके साथ मेल-जोल रखना निषेध था। छितरे हुए आदमी, जिन्होंने गो-मांसाहार जारी रखा, 'पाप' के भागी हुए।

एक बार गौ 'पवित्र' मानी जाने लगी और 'छितरे हुए आदमियों' ने उसका मांस खाना जारी रखा, तो उनके भाग्य में एक ही बात थी और वह यह कि उनके साथ उठना-बैठना बन्द हो जाय अर्थात वे 'अछूत' बन जायें।

इस प्रकरण को अंत करने से पहले यह आवश्यक मालूम देता है कि इस मत के विरुद्ध दो सम्भव आपत्तियों का उत्तर दे दिया जाय। इस मत के विरुद्ध दो आपत्तियाँ तो स्पष्ट ही हैं। एक तो यह है कि इस बात का क्या प्रमाण है कि 'छितरे हुए आदमी' मृत-गौ का मांस खाते थे ? दूसरा प्रश्न है कि जब ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों ने गो-मांस-भक्षण छोड़ा तो उन्होंने भी क्यों नहीं छोड़ दिया ? इस पुस्तक में 'अछूतपन' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उससे इन प्रश्नों का सीधा सम्बन्ध है। इसलिये इनका निराकरण करना ही होगा।

सचमुच पहला प्रश्न उचित है और एक प्रकार की कसौटी है। यदि 'छितरे हुए आदमी' आरम्भ से ही गो-मांसाहारी थे तो स्पष्ट ही है कि हमारे इस नए सिद्धांत के लिए कोई जगह नहीं। क्योंकि यदि वे आरंभ से ही गो-मांसाहारी थे और तब भी 'अछूत' नहीं समझे जाते थे तो यह

कहना कि गोमांसाहार के कारण 'छितरे हुए आदमी' अछूत बन गए, यदि एकदम पागलपन की बात नहीं है तो तर्क-संगत तो नहीं ही है। दूसरा प्रश्न भी चाहे कसौटी न हो किन्तु उचित ही है। यदि ब्राह्मणों ने गो-मांसाहार छोड़ दिया और अब्राह्मणों ने उनका अनुकरण किया तो इन 'छितरे हुए आदमियों' ने भी यही क्यों नहीं किया ? यदि कानून ने गो-वध को एक महान् पातक बना दिया था क्योंकि ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के लिए गौ 'पवित्र' जानवर बन गया था तो इन 'छितरे हुए आदमियों' को भी गो-मांस खाने से क्यों नहीं रोका गया ? यदि उन्हें गोमांस खाने से रोक दिया गया होता, तो अछूतपन का जन्म न होता।

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस समय एक स्थान पर बसी हुई जातियाँ और ये छितरे हुए आदमी दोनों गोमांसाहारी थे तो उस समय भी एक प्रथा चल पड़ी थी, जिसके कारण एक जगह बसे हुए लोग ताजा गोमांस खाते थे, किन्तु छितरे हुए लोग मृत गाय का मांस। हमारे पास कोई ऐसा निश्चित प्रमाण नहीं है कि एक जगह बसे हुए लोगों ने कभी मृत गाय का मांस नहीं खाया, किन्तु हमारे पास नकारात्मक गवाही है, जिससे प्रकट होता है कि मरी हुई गौ पर इन 'छितरे हुए आदमियों' का ही एकाधिकार हो गया था। इस गवाही का सम्बन्ध महाराष्ट्र के महारों से है, जिसका पहले भी उल्लेख हो चुका है। जैसा पहिले कहा जा चुका है महाराष्ट्र के महार मृत पशु पर अपना अधिकार समझते हैं। अपने इस अधिकार को वे गाँव के प्रत्येक हिन्दू के मुकाबले पर सिद्ध करते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि कोई हिन्दू अपने निजी मृत जानवर का मांस भी नहीं खा सकता। उसे वह महारों को ही सौंप देना पड़ता है। यह केवल इसी बात को कहने का एक दूसरा ढंग है कि जब गोमांसाहार एक सामान्य प्रथा थी तो महार मृत गौ का माँस खाते थे और हिन्दू ताजा गोमांस। अब केवल एक ही प्रश्न पैदा होता है और वह यह कि जो बात वर्तमान के लिए सत्य है, क्या वही अतीत के लिए भी सत्य है ? क्या यह बात जो महाराष्ट्र के लिए सत्य है, समस्त भारत में बसे हुए दलों और 'छितरे हुए

'आदमियों' के बीच के सम्बन्ध का एक नमूना मानी जा सकती है ? इस सम्बन्ध में महारों में जो परंपरागत जनश्रुति प्रचलित है, उसका उल्लेख किया जा सकता है। उनका कहना है कि विदर्भ (बेदर) के मुस्लिम राजा ने उन्हें ५२ ऐसे अधिकार दे रखे थे जो दूसरे हिन्दुओं को अप्राप्त थे। यदि स्वीकार कर लिया जाए कि वे अधिकार उन्हें विदर्भ के राजा ने दिए थे तो उस राजा ने उन अधिकारों को पहली बार तो जन्म दिया नहीं होगा। वह दूर अतीत से चले आए होंगे। राजा ने उन्हें केवल स्थिर कर दिया होगा। इसका अर्थ हुआ कि इन 'छितरे हुए आदमियों' के मृत पशुओं का मांस खाने और इन एक जगह बसे हुए दलों के ताजा मांस खाने की प्रथा प्राचीन समय से चली आई है। इस तरह की प्रथा का प्रचलित हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। जो लोग एक जगह बसे हुए थे वे धनी थे। खेती और पशुपालन उनकी जीविका के साधन थे, ये 'छितरे हुए आदमी' भिख-मंगों की जाति थे, वह जिनके पास जीविका का कोई साधन नहीं था और वह एक जगह बसे हुए लोगों पर ही सर्वथा निर्भर करते थे। दोनों के भोजन का मुख्य अंश गोमांस था। एक जगह बसे हुए लोगों के लिए यह संभव था कि वह भोजन के लिए किसी जानवर का वध कर सकें। क्योंकि उनके पास पशु थे। ये, छितरे हुए आदमी, ऐसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनके पास एक भी पशु नहीं होता था। ऐसी परिस्थिति में क्या यह अस्वाभाविक है कि जो एक जगह बसे हुए लोग हैं वे 'छितरे हुए लोगों को' अपनी पहरेदारी करने के बदले में उनकी मजदूरी के तौर पर अपने मृत जानवर देना स्वीकार कर लें ? निश्चय से नहीं। इसलिए यह बात निश्चयपूर्वक मान ही ली जा सकती है कि दूर अतीत में जब एक जगह बसे हुए दल और ये 'छितरे हुए आदमी'—दोनों गोमांस खाते थे तो उस समय एक जगह बसे हुए दल ताजा गोमांस खाते और दूसरे मृत गौ का मांस। साथ ही यह बात भी कि यह प्रथा समस्त भारत में प्रचलित थी, न कि केवल महा-राष्ट्र में।

यह पहली आपत्ति का समाधान हो गया। अब दूसरी आपत्ति लें।

गुप्त राजाओं ने गो-वध के विरुद्ध जो कानून बनाया था ; वह उन लोगों के लिए था जो गो-वध करते थे। यह छितरे हुए आदमियों पर लागू नहीं होता था, क्योंकि वे गो-वध नहीं करते थे। वे केवल मृत गाय का मांस खाते थे। उनका आचरण गो-वध-निषेध के कानून के विरुद्ध न पड़ता था। इसलिए मृत गाय का मांस खाने की प्रथा जारी रहने दी गई। यदि यह मान लें कि ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों के गोमांसाहार छोड़ने का सम्बन्ध अहिंसा से था तो इनका यह आचरण अहिंसा के भी विरुद्ध नहीं था। गो-वध करना हिंसा थी, किन्तु मृत गाय का मांस खाना हिंसा न थी। इसलिए 'इन छितरे हुए आदमियों' के लिए मृत गाय का मांस खाते रहने में किसी प्रकार के मनस्ताप का भी कोई कारण नहीं था। जो कुछ वे कर रहे थे उसमें न कानून ही किसी प्रकार की बाधा डाल सकता था और न सिद्धांत ही—क्योंकि न यह कानून के ही विरुद्ध था और न सिद्धांत के।

और उन्होंने ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों का अनुकरण क्यों नहीं किया ? इसके दो उत्तर हैं। पहिले तो यह कि यह नकल करना उनके लिए अत्यधिक महँगा सौदा था। वे ऐसा नहीं कर सकते थे। मृत गाय का मांस उनका प्रधान जीवनाधार था। इसके बिना वे भूखे मर जाते। दूसरे, मृत-गायों को ढोना यद्यपि आरम्भ में यह एक अधिकार था, किन्तु बाद में उनका यह एक कर्तव्य हो गया था, क्योंकि उन्हें मृत गाय को ढोना ही पड़ता था। इसलिए वे जैसे पहले खाते रहे, उसी तरह अब भी उन्होंने उसका मांस खाते रहने में कोई हर्ज नहीं समझा।

इसलिए (उक्त) आपत्तियों से हमारा सिद्धांत किसी भी तरह असिद्ध नहीं होता।

---

१. महारों में सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप इस समय स्थिति एकदम उल्टी हो गई है। महार मृत पशु को ढोने से इन्कार करते हैं और गांव के हिन्दू उन्हें इसके लिए मजबूर करते हैं।

छठा भाग

अपवित्र और 'अछूत'

"अछूतपन" कब अस्तित्व में आया ? कट्टरपंथी हिन्दुओं का कहना है कि यह अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। अपने कथन के आधार-स्वरूप उनका कहना है कि "अछूतपन" का समर्थन न केवल स्मृतियों में मिलता है, जो कि ज़रा पीछे की हैं, किन्तु धर्म-सूत्रों में भी है, जो कुछ लेखकों के मत से ईसा से कुछ शताब्दियों के पूर्व के हैं।

"अछूतपन" की उत्पत्ति का अध्ययन करने जाकर, जिस प्रश्न से आरम्भ करना होगा, वह यह है कि क्या "अछूतपन" की प्रथा इतनी पुरानी है, जितनी पुरानी यह कही जाती है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें धर्म-सूत्रों की परीक्षा करनी होगी, जिससे हम इस बात का निर्णय कर सकें कि जब धर्म-सूत्र "अछूत-पन" और "अछूतों" की बात कहते हैं, तो उनका तात्पर्य्य क्या है ? क्या वे "अछूतपन" से वह भाव ग्रहण करते हैं, जो आज हम ग्रहण करते हैं ? क्या वे जिस वर्ग के लिये "अछूत" शब्द का व्यवहार करते हैं, वह उन्हीं अर्थों में है जिन अर्थों में हम आज "अछूत" शब्द का व्यवहार करते हैं।

पहले प्रश्न को ही पहले लें। धर्म-सूत्रों की परीक्षा करने से निस्संदेह इस बात का पता लगता है, कि उनमें एक वर्ग का वर्णन है, जिसे वे "अस्पृश्य" कहते हैं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि "अस्पृश्य" शब्द का अर्थ है "अछूत"। तो भी यह प्रश्न बाकी रहता ही है कि क्या धर्म-सूत्रों के "अस्पृश्य" वे ही हैं, जो आधुनिक भारत के ? यह प्रश्न महत्व-

पूर्ण बन जाता है। जब हमें यह मालूम होता है कि धर्म-सूत्र ऐसे ही और भी कई शब्दों का प्रयोग करते हैं—अन्त्य, अन्त्यज, अन्त्यवासिन्, तथा बाह्य। पीछे की स्मृतियों ने भी इन शब्दों का प्रयोग किया है। भिन्न-भिन्न सूत्रों और स्मृतियों ने इन शब्दों को किन-किन अर्थों में प्रयुक्त किया है जान लेना उपयोगी होगा। नीचे की तालिका से यह उद्देश्य पूरा होता है :—

(१) अस्पृश्य

धर्म-सूत्र	स्मृति
१. विष्णु ५. १०४	१. कात्यायन-कारिका ४३३, ७८३

(२) अन्त्य

धर्म-सूत्र	स्मृति
१. वशिष्ठ (१६. ३०)	१. मनु ४.७५, ८. ६८,
२. आपस्तम्ब (३. १)	२ याज्ञवल्क्य १. १४८, १९७,
	३. अत्रि २५,
	४. लिखित ९२.

(३) बाह्य

धर्म-सूत्र	स्मृति
१. आपस्तम्ब १, २, ३९, १८,	१. मनु २८,
२. विष्णु १६. १४,	२. नारद १.११५

(४) अन्त्यवासिन्

धर्म-सूत्र	स्मृति
१. गौतम ३१, २२, ३२.	१. मनु ४, ७९, १०. ३९,
२. वशिष्ठ १८, ३,	२. महाभारत का शान्ति-पर्व १४१, २९-३२,
	३. मध्यमाङ्गिरस् (याज्ञवल्क्य ३.२८० पर मिताक्षरा में उद्धृत)

(५) अन्त्यज

धर्म-सूत्र	स्मृति
१. विष्णु ३६. ७	१. मनु ४.६१; ८. २७९, २. याज्ञवल्क्य १२.५३, ३. बृहद्-यम स्मृति (याज्ञवल्क्य ३.२६, पर मिताक्षरा में उद्धृत) ४. अत्रि ५. वेद व्यास १.१२.१३

२.

दूसरा प्रश्न है कि अन्त्य, अन्त्यज, अन्त्यवासिन् तथा बाह्य—इन शब्दों से जिन वर्गों का बोध होता है, क्या अस्पृश्य शब्द से—जिसका शब्दार्थ अछूत है—भी उन्हीं वर्गों का बोध होता है ? दूसरे शब्दों में क्या वह एक ही वर्ग के लोगों के लिये भिन्न-भिन्न नाम हैं ?

यह दुर्भाग्य की बात है कि धर्म-सूत्र इस प्रश्न का उत्तर देने में हमारी सहायता नहीं करते। 'अस्पृश्य' शब्द दो जगह आता है (एक सूत्र में तथा एक स्मृति में)। लेकिन एक भी जगह उन जातों की गिनती नहीं की गई है, जिनका यह शब्द द्योतक है। यही हाल अन्त्य शब्द का है। यद्यपि 'अन्त्य' शब्द छः जगह आता है (दो सूत्रों में और चार स्मृतियों में) किन्तु एक भी जगह यह नहीं बताया गया है कि वे कौन हैं ? इसी प्रकार 'बाह्य' शब्द भी चार जगह आया है (दो सूत्रों में तथा दो स्मृतियों में), लेकिन उनमें से किसी स्थल पर भी यह नहीं लिखा है कि इस शब्द के अन्तर्गत कौन-कौन जातें आती हैं ? अन्त्यवासिन् तथा अन्त्यज - ये दोनों शब्द अपवाद-रूप हैं। किन्तु यहाँ भी किसी धर्म-सूत्र में उनकी गिनती नहीं है, किन्तु स्मृतियों में उनकी एक गिनती है। अन्त्यवासिन् की गिनती मध्यमाङ्गिरस नामक स्मृति में दी गई है और अन्त्यज की अत्रि-स्मृति तथा वेद-व्यास-स्मृति में। वे कौन हैं—यह नीचे के लेख-पट से स्पष्ट हो जायगा :—

अन्त्यवासिन्	अन्त्यज	
मध्यमाङ्गिरस	अत्रि	वेद-व्यास
१. चाण्डाल	१. नट	१. चाण्डाल
२. श्वपाक	२. मेद	२. श्वपाक
३. क्षत्त	३. भिल्ल	३. नट
४. सूत	४. रजक	४. मेद
५. वैदेहिक	५. चर्मकार	५. भिल्ल
६. मागध	६. बुरुद्	६. रजक
७. अयोगव	७. कैवर्त	७. चर्मकार
		८. विरत
		९. दास
		१०. भट्ट
		११. कोलिक
		१२. पुष्कर

इस लेख-पट से स्पष्ट है कि जहाँ तक अन्त्यवासिन् और अन्त्यज शब्दों के प्रयोग की बात है, उसमें न तो कहीं कुछ निश्चयात्मकपन है और न कहीं किसी प्रकार का अर्थ-साम्य ही है। उदाहरण के लिये चाण्डाल और श्वपाक दोनों ही मध्यमाङ्गिरस और वेद-व्यास के अनुसार अन्त्यवासिन और अन्त्यजों में भी गिने गये हैं, लेकिन जब मध्यमाङ्गिरस की अत्रि के साथ तुलना की जाती है तो ये भिन्न श्रेणियों में विभक्त दिखाई देते हैं। यही बात 'अन्त्यज' के लिये भी सत्य है। उदाहरण के लिये वेद-व्यास के अनुसार चाण्डाल और श्वपाक अन्त्यज हैं, किन्तु अत्रि के अनुसार वे नहीं हैं। फिर उदाहरण के लिये अत्रि के अनुसार बुरुद और कैवर्त अन्त्यज हैं, किन्तु वेद-व्यास के अनुसार वे नहीं हैं। फिर वेद-व्यास के अनुसार (१) विरत (२) दास (३) भट्ट (४) कोलिक और (५) पुष्कर अन्त्यज हैं, किन्तु अत्रि के अनुसार नहीं।

इसका सार इतना ही है कि न धर्म-सूत्रों से ही हमें यह निश्चय करने में कुछ सहायता मिलती है कि 'अस्पृश्य' कौन थे और न 'स्मृतियों' से ही।

इसी प्रकार धर्म-सूत्र और स्मृतियाँ इस बारे में भी हमारी कुछ सहायता नहीं करतीं; कि जो वर्ग अन्त्यवासिन् अन्त्यज अथवा बाह्य कहलाते थे, वे अस्पृश्य ही थे; अथवा नहीं ? क्या कोई दूसरा उपाय है जिस से यह निर्णय हो सके कि इन वर्गों में से कोई एक भी वर्ग 'अस्पृश्य' अथवा 'अछूत' की श्रेणी में आता है या नहीं ? यह अच्छा होगा यदि हम इनमें से प्रत्येक 'वर्ग' के बारे में जो भी जानकारी प्राप्य है, उसे एकत्र कर लें।

'बाह्यों' को ही लें। ये कौन हैं ? वे क्या हैं ? क्या वे 'अछूत' हैं ? मनु ने उनका उल्लेख किया है। उनकी स्थिति समझने के लिये मनु की सामाजिक वर्गीकरण की योजना का उल्लेख करना आवश्यक है। मनु लोगों को अनेक वर्गों में विभक्त करता है। पहले तो वह (१) वैदिकों तथा (२) दस्युओं का मोटा वर्गीकरण करता है। इसके आगे वह वैदिकों के चार विभाग करता है :—(१) जो चातुर्वर्ण्य के भीतर हैं, (२) जो चातुर्वर्ण्य के बाहर हैं, (३) व्रात्य, (४) पतित या जाति-बहिष्कृत।

कोई आदमी चातुर्वर्ण्य के अन्दर गिना जाय या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता था कि उसके माता-पिता का वर्ण क्या है ? यदि वह समान वर्ण के माता-पिता की सन्तान हुआ, तो वह चातुर्वर्ण्य के अन्दर गिना जाता था। यदि वह भिन्न वर्ण के माता-पिता की सन्तान हुआ, जिसे मिश्रित-विवाह का परिणाम कह सकते हैं, अथवा जिसे मनु 'वर्ण-संकर' कहता है, वह तो चातुर्वर्ण्य से बाहर माना जाता था। जो चातुर्वर्ण्य के बाहर माने गये हैं, मनु ने उनके फिर दो भेद किये हैं (१) अनुलोम, (२) प्रतिलोम। अनुलोम वे जनके पिता ऊँचे वर्ण के किन्तु माता नीचे के वर्ण की और प्रति-लोम इससे उलटे अर्थात् जिनकी माता ऊँचे वर्ण की और पिता नीचे के वर्ण के। यद्यपि चातुर्वर्ण्य से बाहर होने के कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों समान ही थे, तो भी मनु ने दोनों में भेद किया है। अनुलोमों को वह वर्ण-बाह्य अथवा केवल बाह्य कहता है और प्रतिलोमों को हीन। 'हीन' बाह्य लोगों से निचले दर्जे के हैं, लेकिन न 'बाह्य' ही मनु की दृष्टि में "अछूत" हैं और न 'हीन' ही।

'अन्त्यों' का एक वर्ग के रूप में* मनु ने ४.७९ में वर्णन किया है। हाँ, मनु उनकी गिनती नहीं करता। मेधातिथि ने अपने भाष्य में सुझाया है कि 'अन्त्य' का अर्थ म्लेच्छ है, जैसे मेद इत्यादि। बुलहर ने 'अन्त्य' का अनुवाद 'हीन-जाति के आदमी' किया है।

इस प्रकार 'अन्त्यों' के 'अछूत' होने का किसी तरह समर्थन नहीं होता। अधिक सम्भव यही है कि यह नाम उन लोगों को दिया गया था, जो गाँव के अन्त में रहते थे। उनको 'नीच जाति' का गिने जाने के कारण बृहदारण्यक उपनिषद् की कथा में आता है, जिसका श्री काणे ने उल्लेख किया है। कथा इस प्रकार है :—

"देवताओं और असुरों में संग्राम हुआ। देवताओं ने सोचा कि वे उद्गीथ द्वारा असुरों पर विजयी हो सकते हैं। इसमें अनुच्छेद है कि इस देवता (प्राण) ने जो पाप (वाक् आदि) इनके लिये मृत्यु-रूप था, उसे एक ओर फेंककर देवताओं के अन्त में पहुँचा दिया। इसलिये किसी को आर्यों की सीमा से बाहर नहीं जाना चाहिये, न दिशाओं के अन्त में। उसे यह विचार करना चाहिये कि ऐसा करने से मैं पाप्मन् अर्थात् मृत्यु के हाथ में पड़ जा सकता हूँ।"+

'अन्त्य' शब्द का अर्थ इस अनुच्छेद में आने वाले 'दिशाम् अन्त' के अर्थ पर निर्भर करता है। यदि दिशाम् अन्त' का अर्थ 'गाँव की सीमा के सिरे पर लिया जा सकता हो और उसे खींचतान कर निकाला हुआ अर्थ न समझा जाय, तो अन्त्य शब्द के मूल अर्थ की कुछ व्याख्या हमारे हाथ लग जाती है। इस से यह अर्थ नहीं निकलता कि 'अन्त्य' लोग 'अछूत' थे। इससे इतना ही अर्थ निकलता है कि वे गाँव की सीमा पर रहते थे।

जहाँ तक 'अन्त्यजों' की बात है, उनके बारे में जो कुछ हम जानते

* न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥४—७९

\+ बृहदारण्यक उपनिषद् (१.३)

हैं, यह उनके "अछूत' होने की बात का खंडन करने के लिये पर्याप्त है। इन कुछ बातों की ओर ध्यान दिया जा सकता है :—

महाभारत के शान्ति-पर्व में (१०६.६) अन्त्यजों के सैनिक होने का उल्लेख है। सरस्वती-विलास के अनुसार पितामह ने रजकों की सात जातियों की बात कही है, जो 'प्रकृति' के रूप में 'अन्त्यजों' में गिने जाते थे। प्रकृति का अर्थ धोबी आदि व्यावसायिक श्रेणियाँ हैं, यह बात शक सम्वत् ६२२ के भिल्लम द्वितीय के संगमनेर (ताम्र-पत्र) से स्पष्ट हो जाती है। इस (ताम्र-पत्र) में १८ प्रकृतियों को दिये गये एक गाँव के दान का उल्लेख है। वीरमित्रोदय का कहना है कि श्रेणी का अर्थ रजक आदि अठारह जातियाँ हैं, जो सामूहिक तौर पर 'अन्त्यज' कहलाती हैं। इन बातों के रहते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि 'अन्त्यज' लोग "अछूत" माने जाते थे।

अब 'अन्त्य-वासिनों' को लें। वे कौन थे? क्या वे "अछूत" थे? 'अन्त्यवासिन' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है। इसका एक अर्थ है, वह ब्रह्मचारी, जो गुरु के पास उसके घर में रहता है। ब्रह्मचारी के लिये अन्त्यवासिन् शब्द आया है। शायद 'अन्त' में भोजन करने वाला होने से अन्त्यवासिन् कहलाता हो। जो हो यह निर्विवाद है कि इस सम्बन्ध में इस शब्द का अर्थ "अछूत" नहीं हो सकता। यह हो ही कैसे सकता है, जब केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही ब्रह्मचारी बन सकते थे? दूसरे अर्थ में वह एक 'लोक-समूह' का द्योतक है, किन्तु इसमें भी इस बात में सन्देह है कि यह शब्द "अछूत" का पर्य्यायवाची था।

वशिष्ठ धर्म-सूत्र (१८.३) के अनुसार वे शूद्र-पिता और वैश्य-माता के सन्तान हैं, किन्तु मनु के मत में (५,३४) वे चाण्डाल-पिता और निषाद-माता के सन्तान हैं। उनके 'वर्ग' के सम्बन्ध में मेधातिथि का कहना है कि वे 'अन्त्यजों' का ही एक उपवर्ग हैं। इसलिये अन्त्यजों के बारे में जो बात सत्य है, वह 'अन्त्यवासिन्' के बारे में भी सत्य समझी जा सकती है।

यदि हम यहाँ थोड़ा रुक कर अपने प्राचीन साहित्य में 'अन्त्य-वासिन', 'अन्त्य' तथा 'अन्त्यज' आदि की सामाजिक अवस्था के बारे हमें जो जानकारी प्राप्त है, उसका लेखा-जोखा लें तो स्पष्ट है कि हम यह कहने के लिये स्वतन्त्र नहीं कि 'अछूत' शब्द के आधुनिक अर्थ में वे 'अछूत' थे। लेकिन तो भी ऐसे लोगों के सन्तोष के लिये जिन्हें अभी भी सन्देह बाकी हो, एक दूसरे दृष्टिकोण से भी यह परीक्षण किया जा सकता है। यह मान कर कि उन्हें 'अस्पृश्य' कहा गया है। हम यह पता लगाने का प्रयत्न करें कि धर्म-सूत्रों के समय में 'अस्पृश्य' शब्द का क्या भावार्थ था।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हम धर्म-शास्त्रों के बनाये हुए "प्राय-श्चित्त" के नियमों को लें। इनका अध्ययन करने से हम यह देख सकेंगे कि क्या धर्म-सूत्रों के समय में भी 'अस्पृश्य' शब्द से वही भाव ग्रहण किया जाता था, जो आज लिया जाता है ?

हम उदाहरण के लिये 'अस्पृश्य' कहलाने वाली एक जाति 'चाण्डाल' को लें। पहले तो यह बात ध्यान में रखने की है कि 'चाण्डाल' शब्द से किसी 'जाति'-विशेष का ग्रहण नहीं होता। यह एक दूसरे से भिन्न कई तरह के लोगों के लिये एक शब्द है। शास्त्रों में कुल मिलाकर पाँच तरह के 'चाण्डालों' का वर्णन है। वे हैं (१) शूद्र-पिता और ब्राह्मण-माता की सन्तान, (२) कुँवारी लड़की की सन्तान, (३) सगोत्र स्त्री से सन्तान, (४) संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ होने वाले की सन्तान, (५) नाई-पिता और ब्राह्मण-माता की सन्तान।

यह कहना कठिन है कि कौन-सा चाण्डाल "शुद्ध" होना आवश्यक कहता है। हम यह मान लेते हैं कि सभी चाण्डाल "शुद्ध" होना आवश्यक कहते हैं। शास्त्रों ने "शुद्धि" के क्या नियम ठहराये हैं :—

गौतम धर्म-सूत्र (१६, ३) की आज्ञा है :—

"कि जाति-बहिष्कृत, एक चाण्डाल, 'सूतक' के कारण 'अपवित्र' स्त्री, मासिक-धर्म वाली स्त्री, मुर्दा तथा इनको स्पर्श करने वाले लोगों का

यदि स्पर्श हो जाये तो वह सचैल (वस्त्रों सहित) स्नान से "पवित्र" हो सकेगा।"

वशिष्ठ धर्म-सूत्र (४,३७) की आज्ञा इस प्रकार है :—

"यज्ञ-स्तम्भ, चिता, श्मशान-भूमि, मासिक-धर्मिणी अथवा सद्यः-प्रसूता स्त्री, अपवित्र-आदमी अथवा चाण्डाल को स्पर्श करने वाले को डुबकी लगाकर स्नान करना होगा।"

बौधायन वशिष्ठ से सहमत है, क्योंकि उसके धर्म-सूत्र (प्रश्न १, अध्याय ५, खण्ड ६, श्लोक ५) का भी कहना है :—

"अपवित्र स्थान पर लगा हुआ वृक्ष, चिता, यज्ञ-स्तम्भ, चाण्डाल तथा वेद बेचने वाले का यदि कोई ब्राह्मण स्पर्श करेगा तो उसे सचैल स्नान करना होगा।"

मनु-स्मृति के नियम इस प्रकार हैं :—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ५–८५ ॥

[जब ब्राह्मण किसी चाण्डाल, किसी रजस्वला स्त्री, किसी पतित, किसी प्रसूता, किसी शव अथवा जिसने शव का स्पर्श किया हो, ऐसे किसी का स्पर्श करता है, तो वह स्नान करने से शुद्ध होता है ॥५–८५॥]

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत्।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चाण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ ५–१३१ ॥

[कुत्तों द्वारा मारे गये (पशु) का मांस, किसी अन्य मांसाहारी पशु द्वारा मारे गये प्राणी का मांस अथवा चाण्डाल द्वारा मारे गये प्राणी का मांस पवित्र होता है ॥ ५–१३१ ॥]

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ ५–१४२ ॥

[किस वस्तु को किसी भी ढंग से ले जाता हुआ कोई यदि किसी

"अपवित्र" व्यक्ति या वस्तु से छू जायेगा, तो उस चीज़ को बिना रखे ही वह आचमन द्वारा पवित्र होगा ॥५—१४३॥]

'धर्म-सूत्रों' तथा 'मनु-स्मृति' से उद्धृत इन पाठों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती है :—

(१) चाण्डाल से केवल ब्राह्मण ही "अशुद्ध" होता था।

(२) सम्भवतः संस्कार-विशेष के ही अवसर पर शुद्धि-अशुद्धि का ख्याल किया जाता था।

(४)

यदि ये परिणाम ठीक हैं, तो यह 'अशुद्धि' है, 'अछूतपन' नहीं। 'अशुद्धि' और "अछूत" का भेद एकदम स्पष्ट है। 'अछूत' सभी को 'अपवित्र' करता है, किन्तु अशुद्ध केवल ब्राह्मण को "अपवित्र" करता है। 'अशुद्ध' का स्पर्श केवल संस्कारों के अवसर पर ही "अपवित्रता" का कारण बनता है। 'अछूत' का स्पर्श सदैव।

एक और तर्क है, जिसका उल्लेख अभी तक नहीं किया गया है। इससे यह मत सर्वथा असिद्ध हो जाता है कि धर्म-सूत्रों में जिन जातियों के नाम आये हैं, वे "अछूत" थीं। वह तर्क दूसरे परिच्छेद में 'कौंसिल आदेश' की जो जाति-सूची और इस परिच्छेद में स्मृतियों के आधार पर बनाई गई सूची की तुलना से उत्पन्न होता है। इस तुलना से क्या प्रकट होता है ? कोई भी देख सकता है, इससे प्रकट होता है :—

(१) स्मृतियों में दी गई जातियों की अधिक से अधिक संख्या केवल १२ है, लेकिन 'कौंसिल-आदेश' में जिनके नाम आये हैं, वे ४२९ तक पहुँचती है।

(२) ऐसी जातियाँ हैं, जिनके नाम 'कौंसिल-आदेश' में हैं, किन्तु स्मृतियों में नहीं हैं।[१] ४२९ में से ४२७ जातियाँ ऐसी हैं, जिनके नाम स्मृतियों को ज्ञात नहीं।

[१] कौंसिल-आदेश, में उल्लिखित ४२९ जातियों में से केवल तीन ही का स्मृतियों में उल्लेख है।

(२) ऐसी जातियाँ हैं जिनके नाम स्मृतियों में हैं, किन्तु 'कौंसिल-आदेश' की सूची में एकदम नहीं।

(३) ऐसी केवल एक जाति है, जिस के नाम दोनों में हैं। वह जाति है चमार।[1]

जो यह नहीं मानते कि "अपवित्र" और "अछूत" भिन्न-भिन्न होते हैं, वे उक्त बातों से अपरिचित प्रतीत होते हैं। लेकिन उन्हें उनपर ध्यान देना ही पड़ेगा। यह बातें इतनी विशेष और इतनी प्रभावोत्पादक हैं कि हमें इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि "अपवित्र" और "अछूत" भिन्न-भिन्न हैं।

पहली बात को ही लें। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है।

यदि दोनों सूचियाँ एक ही और उन्हीं लोगों की हैं, तो दोनों में यह भेद और इतना अधिक भेद क्यों है? यह कैसे है कि शास्त्रों में जिन जातियों का नाम आया है वह 'कौंसिल-आदेश' की सूची में है ही नहीं? दूसरी ओर, यह भी कैसे है कि 'कौंसिल-आदेश' की सूची में जिन जातियों का नाम आया है वे शास्त्रों की सूची में हैं ही नहीं? हमारे सम्मुख यह सब से पहली कठिनाई है।

यदि हम यह मान लें कि इससे एक ही प्रकार के लोगों का तात्पर्य्य है, तो प्रश्न बड़ा गम्भीर हो जाता है। यदि एक ही प्रकार के लोगों से तात्पर्य्य है, तो स्पष्ट ही है कि आरम्भ में जो "अछूतपन" केवल बारह जातियों में सीमित था, वह ४२९ जातियों में फैल गया। इस "अछूतपन" के विशाल साम्राज्य के विस्तार का क्या कारण है? यदि यह ४२९ जातियाँ उसी वर्ग की हैं, जिस वर्ग की बारह जातियों का शास्त्रों में उल्लेख है, तो किसी भी शास्त्र में इन चार सौ उनतीस जातियों का नाम क्यों नहीं है? यह हो नहीं सकता कि जिस समय शास्त्र लिखे गये उस समय

[1]अन्त्य सूची में उल्लिखित सिर्फ दो जातियाँ में हैं—नट और रजक। किन्तु 'कौंसिल-आदेश' के अनुसार देश के कुछ ही हिस्सों में अछूत माने जाते हैं। चमार सारे भारत में अछूत माना जाता है।

सोलह

छितरे हुए आदमी अछूत कब बने ?

अभी तक जितना विचार-विमर्श हुआ है, उससे यह बात सिद्ध होगई कि एक समय था जब भारत के प्रत्येक गाँव के दो हिस्से होते थे। एक बसे हुए लोगों का, दूसरा छितरे हुए लोगों का। यद्यपि दोनों दूर-दूर रहते थे। 'बसे हुए लोग गाँव के अन्दर और छितरे हुए गाँव के बाहर' तो भी दोनों के परस्पर के सामाजिक व्यवहार में किसी प्रकार की बाधा न थी। जब गौ को पवित्रता का दर्जा मिल गया और गोमांस और गोमांस-भक्षण निषिद्ध ठहराया गया, उस समय समाज दो हिस्सों में बंट गया। बसी हुई जातियाँ 'छूत' जातियाँ बन गई और छितरी जातियाँ 'अछूत'। छितरे हुए आदमी अछूत कब समझे जाने लगे, यह अंतिम विचारणीय प्रश्न है। 'अछूतपन' की उत्पत्ति की निश्चित तिथि का निर्णय करने में जो कठिनाइयाँ हैं, जो प्रगट ही हैं। 'अछूतपन' सामाजिक मनोविज्ञान का एक पहलू है। एक दल की दूसरे दल के विरुद्ध एक प्रकार की सामाजिक घृणा है। यह सामाजिक मनोविज्ञान का ही एक विकृत वृद्धिगत रूप है, जिसे अपना आकार-प्रकार बनाने में कुछ समय लगा ही होगा। इसलिये कोई भी एक ऐसी चीज के अस्तित्व में आने की निश्चित तिथि का निर्णय करने का दुःसाहस नहीं कर सकता, जो सम्भवतः आदमी के हाथ की हथेली जितने बड़े बादल के रूप में आरम्भ हुआ और बढ़कर, आज जैसा हम देखते हैं, यह सर्वव्यापी रूप धारण कर लिया। यह 'अछूतपन' का बीज कब बीजा गया होगा ? यदि किसी निश्चित तिथि का निर्णय करना संभव नहीं है, तो क्या उसके आस-पास की तिथि निश्चित की जा सकती है ?

एक निश्चित तिथि सम्भव नहीं है। किन्तु लगभग निश्चित तिथि बताई जा सकती है। इसके लिये पहली बात यह करनी होगी कि हम ऊपर की ओर की उस सीमा का निर्णय करें, जब "अछूतपन" नहीं था, और तत्पश्चात् नीचे की ओर की सीमा का जब "अछूतपन" का आरम्भ हो गया था।

ऊपरी सीमा निश्चित करने के सम्बन्ध में जो पहली बात ध्यान देने की है, वह यह है कि जो 'अन्त्यज' कहलाते हैं, उनका उल्लेख वेद में आता है, लेकिन वे, इतना ही नहीं कि "अछूत' नहीं समझे जाते थे, किन्तु वे तो "अपवित्र" भी नहीं माने जाते थे। इस परिणाम के समर्थन में श्री काणे का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है :—

"आरम्भिक वैदिक वाङ्मय में कई ऐसे नाम आते हैं, जिन्हें स्मृति-कारों ने 'अन्त्यज' कहा है। चमन्न ऋक्वेद (८, ८, ३८) में आया है, चाण्डाल और पौल्कस वाजसनेयि संहिता में आते हैं, वेद और वप्ता (नाई) ऋक् वेद में भी, विदलकार अथवा विदलकर [स्मृतियों के बुरुद के प्रति-निधि] वाजसनेयि-संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में आते हैं। वासहपलपुली [धोबिन] स्मृतियों के रजकों की प्रतिनिधि वाजसनेयि-संहिता में। किन्तु इन अनुच्छेदों में इस बात की ओर कहीं इशारा भी नहीं कि यदि ये लोग 'जातियाँ' भी बन गये थे, तो ये लोग "अछूत" थे।"[१]

इस प्रकार वैदिक समय में कहीं कोई "अछूतपन" नहीं था। जहाँ तक "धर्म-सूत्रों" के समय की बात है हम देख चुके हैं कि उस समय "अपवित्रता थी, किन्तु "अछूतपन" नहीं था।

क्या मनु के समय में "अछूतपन" था ? इस प्रश्न का यों ही ताबड़-तोड़ उत्तर नहीं दिया जा सकता। मनु-स्मृति का एक श्लोक है, जिसमें मनु का कथन है कि केवल चार वर्ण हैं, पाँचवाँ है ही नहीं।[२] यह श्लोक एक पहेली का रूप लिये हुए है। यह कह सकना कि इसका ठीक तात्पर्य क्या है। आसान

१. धर्मशास्त्र (द्वितीय खण्ड, प्रथम भाग, पृ० २६५)
२. मनुस्मृति (१०, ४)

नहीं। स्पष्ट ही है कि जिस समय उसने यह लिखा उस समय कोई विवाद चल रहा होगा। मनु ने यहाँ उसी को शान्त करने का प्रयत्न किया है। यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि यह विवाद 'चातुर्वर्ण्य' को लेकर किसी 'जाति' के सम्बन्ध में रहा होगा। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि विवाद का केन्द्र-बिन्दु क्या रहा होगा ? संक्षेप में कहना हो तो विवाद का विषय यही था, कि जाति-विशेष को चातुर्वर्ण्य के भीतर स्वीकार किया जाये अथवा वह चातुर्वर्ण्य के बाहर पाँचवीं 'जाति' मानी जाये ? यह सब एकदम स्पष्ट है। जो बात स्पष्ट नहीं है वह यह कि यह विवाद किस 'जाति' के सम्बन्ध में है ? यह इसीलिये कि जिस 'जाति' के सम्बन्ध में यह विवाद है, मनु ने उसका विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया।

यह श्लोक इस लिये भी पहेली का रूप लिये हुए है कि मनु का निर्णय भी अस्पष्ट है, मनु का निर्णय है कि कोई पाँचवाँ वर्ण नहीं। एक सामान्य कथन के तौर पर इसका एक अर्थ है, जो हर किसी की समझ में आता है। लेकिन जब इस निर्णय को उस जातिविशेष पर लागू किया जाये, जिसका दर्जा विवाद-ग्रस्त विषय था, तो इसका क्या अर्थ होता है ? प्रकट ही है कि इसके दो अर्थ होते हैं। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि क्योंकि कोई पाँचवाँ वर्ण नहीं है, इसलिये वह जाति-विशेष इन्हीं चारों वर्णों में से किसी एक के अन्तर्गत स्वीकार की जानी चाहिये, किन्तु इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि क्योंकि वर्ण चार ही होते हैं, पाँचवाँ हो नहीं सकता, इसलिये उस जाति-विशेष को एकदम चातुर्वर्ण्य के बाहर माना जाये।

सनातनी हिन्दू का परम्परागत मत है कि उस मनुस्मृति के इस उद्धरण का अछूतों से सम्बन्ध है। यह 'अछूतों' का ही दर्जा था जो विवाद का विषय था; और 'अछूतों' के दर्जे के सम्बन्ध में ही मनु का यह निर्णय है। यह अर्थ इतना अधिक बद्धमूल हो गया है कि इससे हिन्दुओं के दो भेद ही माने जाने लगे हैं—सवर्ण हिन्दू तथा अवर्ण हिन्दू अर्थात् अछूत। प्रश्न है कि क्या यह मत ठीक है। मनु के इस श्लोक का तात्पर्य किस से

है ? क्या इसका तात्पर्य "अछूतों" से है ? सम्भव है कि इस विषय की चर्चा विवाद-ग्रस्त प्रश्न से दूर की चीज मालूम हो। लेकिन ऐसी बात नहीं है। क्योंकि यदि इस श्लोक का सम्बन्ध "अछूतों" से ही हो तो इससे यह सिद्ध हो सकता है कि मनु के समय में "अछूतपन" था। यह एक ऐसा परिणाम है, जिसका विचारणीय विषय से सीधा सम्बन्ध है। इसलिये इस विषय को लेकर विवेचन करना ही होगा।

मेरा निश्चित मत है कि उक्त अर्थ गलत है। मेरी मान्यता है कि इस श्लोक का अछूतों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। मनु ने यह कहीं नहीं कहा है कि वह कौनसी जाति थी, जिसका दर्जा विवाद का विषय था और जिस के विषय में मनु ने अपना निर्णय दिया। क्या यह अछूतों की 'जाति' थी अथवा यह कोई दूसरी 'जाति' थी ? अपने मत के समर्थन में कि इस श्लोक का 'अछूतों' से किसी प्रकार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मैं दो बातों पर निर्भर करता हूँ— पहली बात तो यही है कि मनु के समय में 'अछूतपन' नहीं था। उस समय केवल 'अपवित्रता' थी। चाण्डाल के प्रति मनु का भाव एक मात्र घृणा का है। वह चाण्डाल भी केवल 'अपवित्र' ही था। ऐसा होने पर इस श्लोक का किसी तरह भी 'अछूतपन' से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि हमारे पास इस बात के समर्थन में प्रमाण हैं कि इस श्लोक का सम्बन्ध 'अछूतों' से नहीं, 'दासों' से है। इस मत का आधार नारद-स्मृति के उस श्लोक की भाषा है, जिसका उद्धरण इसी पुस्तक के सातवें परिच्छेद में, जहाँ 'अछूतपन' का आधार में पेशा की चर्चा की गई है, दिया गया है। यह बात ध्यान देने की है कि नारद-स्मृति 'दासों' को पाँचवाँ वर्ण मानकर उनका उल्लेख करती है। यदि 'नारद-स्मृति' में पाँचवें-वर्ण का अर्थ 'दास' हो सकता है। तो कोई कारण नहीं कि मनु-स्मृति में पाँचवें-वर्ण का अर्थ दास न हो। यदि यह तर्क ठीक है तो इससे इस कथन की जड़ ही कट जाती है कि मनु के समय में 'अछूतपन' था और मनु 'अछूतों' को वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत लेने को तैय्यार न था। इन कारणों से मनु-स्मृति के इस श्लोक का सम्बन्ध 'अछूतपन' से नहीं है

और इसलिये यह मानने का कोई कारण नहीं है कि मनु के समय में 'अछूतपन' था।

इस प्रकार हम निश्चयात्मक रूप से 'अछूतपन' की उत्पत्ति की तिथि की ऊपरी सीमा का निर्णय कर सकते हैं। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मनु-स्मृति ने 'अछूतपन' का आदेश नहीं दिया; तो भी एक महत्व-पूर्ण प्रश्न बाकी रह जाता है। मनुस्मृति का समय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के बिना एक सामान्य आदमी के लिये किसी विशेष काल में 'अछूत-पन' के होने, न होने के बारे में कुछ भी कह सकना कठिन है। मनुस्मृति के काल के बारे में पंडितों में मतैक्य नहीं। कुछ इसे अत्यन्त प्राचीन मानते हैं और कुछ अत्यन्त अर्वाचीन। सभी बातों का विचार करके प्रो० बूहलर ने मनुस्मृति का एक समय निश्चित किया है, जो सत्य प्रतीत होता है। श्री बूहलर के मत से, जैसी मनुस्मृति हमें आज मिलती है, ईसा की दूसरी शताब्दी में, अस्तित्व में आई। केवल प्रो० बूहलर ने ही मनुस्मृति के लिये इतना समीप का समय निश्चित नहीं किया। श्री दफ्तरी भी इस परिणाम पर पहुँचे हैं। उनका मत है कि मनुस्मृति १८५ ई० पूर्व के बाद अस्तित्व में आई। इससे पहले नहीं। श्री० दफ्तरी का तर्क है कि मौर्य-वंश के नरेश बौद्ध-महाराज बृहद्रथ की हत्या से जो कि उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने की थी, इस का सीधा सम्बन्ध है। क्योंकि यह दुर्घटना १८५ ई० पूर्व में हुई; इस लिये मनुस्मृति १८५ ई० पूर्व के बाद लिखी गई होगी। इस प्रकार के परिणाम का समर्थन करने के लिये पुष्यमित्र द्वारा बृहद्रथ मौर्य की हत्या और मनुस्मृति के लिखे जाने में जो सम्बन्ध रहा है उसे जोरदार अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता है। दुर्भाग्य से श्री दफ्तरी ने ऐसा नहीं किया। इसलिये उनका परिणाम निराधार प्रतीत होता है। इस प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना अनिवार्य है। सौभाग्य से इस सम्बन्ध में गवाही की कमी नहीं।

दुर्भाग्य से पुष्यमित्र द्वारा बृहद्रथ मौर्य की हत्या की ओर किसी का ध्यान नहीं गया, अथवा जितना चाहिये उतना ध्यान आकर्षित नहीं

हुआ। इतिहासज्ञों ने इसे दो व्यक्तियों के व्यक्तिगत झगड़े का-सा रूप देकर एक सामान्य-सी घटना मान लिया है। इसके परिणामों की ओर ध्यान दें, तो यह युगान्तर-कारी घटना थी। इस घटना का महत्व इस बात से नहीं मापा जा सकता कि यह दो राजवंशों का परिवर्तन था—मौर्यों द्वारा शुंगों का स्थान-ग्रहण। यह फ्रांस की राज्य-क्रांति से भी, यदि बड़ी नहीं तो उतनी ही बड़ी राजनीतिक क्रांति थी। यह एक क्रांति थी—'लाल क्रांति'। इसका उद्देश्य था बौद्ध राजाओं का तख्ता उलट देना। इसके सूत्र-संचालक थे ब्राह्मण। पुष्यमित्र द्वारा बृहद्रथ की हत्या इसी एक बात की द्योतक है।

विजयी ब्राह्मणवाद को अनेक चीजों की आवश्यकता थी। स्वाभाविक तौर पर इसके लिये यह आवश्यक था कि यह चातुर्वर्ण्य को देश का कानून बना दे। बौद्ध इसे अस्वीकार करते ही थे। इसे इस बात की भी आवश्यकता थी कि जिस पशु-बलि को बौद्धों ने रोक दिया था, उसे कानून का रूप दे दिया जाय। लेकिन इसे इसके अतिरिक्त और भी कुछ चाहिये था। बौद्ध नरेशों के विरुद्ध यह क्रांति लाकर ब्राह्मणवाद ने देश के ऐसे दो प्रचलित नियमों का उल्लंघन कर दिया, जिनको सभी लोग पवित्र और अनुल्लंघनीय मानते थे। पहला नियम तो यह था कि ब्राह्मण के लिये शस्त्र का स्पर्श भी पाप था। दूसरे नियम के अनुसार राजा का शरीर पवित्र था और उसकी हत्या पाप। विजयी ब्राह्मणवाद को अपने पापों का समर्थन करने के लिये एक पवित्र ग्रन्थ की आवश्यकता थी। जो सभी के लिये प्रमाण-स्वरूप हो। 'मनुस्मृति' की एक ध्यान आकर्षित करने वाली विशेषता यह है, कि यह न केवल चातुर्वर्ण्य को देश का कानून बनाती है, न केवल पशु-बलि को कानून की दृष्टि से उचित ठहराती है, किन्तु यह, यह भी बताती है कि ब्राह्मण को कब हाथ में शस्त्र लेना चाहिये, और कब वह राजा की हत्या करके भी अधम नहीं करता। इस मामले में 'मनुस्मृति' ने वह काम किया है, जो पहले की किसी स्मृति ने नहीं किया। यह एकदम नया रास्ता है। यह एकदम नवीन सिद्धांत है। 'मनुस्मृति' को ऐसा करने की क्या

आवश्यकता पड़ी ? इसका केवल एक ही उत्तर है कि पुष्यमित्र ने जो राज्य-क्रांति की थी, उसका दार्शनिक समर्थन करने के लिये। पुष्यमित्र और मनुस्मृति के इस नये सिद्धांत के बीच के सम्बन्ध से यही प्रकट होता है कि 'मनुस्मृति' १८५ ई० पूर्व के कुछ बाद में अस्तित्व में आई। यह ऐसी तिथि है, जो प्रो० बूहलर की तिथि से बहुत दूर नहीं है। 'मनुस्मृति' का काल-निर्णय हो जाने पर हम कह सकते हैं कि दूसरी शताब्दी में 'अछूतपन' नहीं था।

अब हम "अछूतपन" की उत्पत्ति की नीचे की सीमा के निर्णय की ओर ध्यान दें। इसके लिये हमें चीनी-यात्रियों के पास जाना होगा, जो भारत आये और जिन्होंने अपने समय के भारतीयों के रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है। इनमें से फा-हि-यान नामक चीनी यात्री का कथन विशेष है। वह ४०० ई० में भारत आया। जो कुछ उसने देखा और लिखा, उसमें निम्नलिखित अनुच्छेद आता है :—

"इस (मथुरा) से दक्षिण तथाकथित मध्य-देश है। यहाँ का जल-वायु उष्ण और समशीतोष्ण है, यहाँ न पाला पड़ता है, न बर्फ गिरती है। लोग समृद्धि-शाली हैं। उन पर व्यक्ति-कर नहीं है तथा दूसरी सरकारी पाबन्दियों से भी मुक्त हैं। जो सरकारी जमीन जोतते हैं उन्हें अपने लाभ में से एक भाग देना पड़ता है। यदि वे जोतते रहना चाहें जोतते रह सकते हैं, यदि बन्द करना चाहें तो बन्द कर दे सकते हैं। राजा बिना शारीरिक दण्ड के शासन करते हैं। अपराधियों को परिस्थिति अनुसार हलका या भारी जुर्माना किया जाता है। बार-बार विद्रोह करने पर भी केवल उनका दाहिना हाथ ही काटा जाता है। राजा के दायें बायें रहने वाले उसके अंग रक्षकों का निश्चित वेतन है। देश भर में चांडालों के अतिरिक्त कोई भी न किसी जीव की हत्या करता है, न सुरापान करता है, और न लहसुन या प्याज खाता है। चांडालों को 'कुपुरुष' कहा जाता है। वे दूसरों से पृथक् रहते हैं। यदि वे बस्ती या बाजार में प्रवेश करते हैं तो वे अपने आप को पृथक् करने के लिए लकड़ी के टुकड़े से एक प्रकार की आवाज करते

हैं। आदमियों को उनके आगमन का पता लग जाता है। वे उससे बचकर चलते हैं। इस प्रदेश में ये लोग न सूअर पालते हैं, न मुर्गे। ये पशुओं का क्रय-विक्रय भी नहीं करते। इनके यहाँ खुले बाजारों में न कसाई-खाने होते हैं और न शराब की दुकानें। क्रय-विक्रय में ये कौड़ियों का उपयोग करते हैं। चांडालों का काम है केवल शिकार खेलना और मछली बेचना।"

क्या इस कथन को फाहियान के समय "अछूतपन" की विद्यमानता का प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है? चाण्डालों के प्रति जो व्यवहार किया जाता था, उस वर्णन के एक हिस्से से ऐसा परिणाम निकाला जा सकता है कि फाहियान के समय "अछूतपन" का अस्तित्व था।

किन्तु, इस परिणाम के स्वीकार करने में एक कठिनाई है। कठिनाई इस कारण पैदा होती है, क्योंकि जो कुछ कहा गया है, वह चाण्डालों के विषय में है। "अछूतपन" का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व सिद्ध करने के लिये "चाण्डालों" का उदाहरण एक अच्छा उदाहरण नहीं। ब्राह्मण "चाण्डालों" को अपने परम्परागत शत्रु समझते रहे हैं। उनके लिये यह स्वाभाविक है कि वे उन पर घृणित-आचरण का आरोप लगायें, उनके लिये नीच-शब्दों का प्रयोग करें। अपनी द्वेष-भावना की शान्ति के लिये उनके प्रति एकदम बनावटी व्यवहार करें। इसलिए जो कुछ भी चाण्डालों के बारे में कहा गया हो उस पर बहुत सोच विचार कर विश्वास करना चाहिये।

यह तर्क केवल कल्पनाश्रित नहीं है। जिन्हें यह तर्क दुर्बल प्रतीत होता हो वे प्रमाण-स्वरूप बाण की कादम्बरी में दिये गये चाण्डालों के प्रति किये व्यवहार पर विचार कर सकते हैं।

कादम्बरी की कथा बड़ी उलझी हुई है। वास्तव में उससे हमारा विशेष सम्बन्ध भी नहीं। हमारे उद्देश्य के लिये इतनी जानकारी पर्याप्त है कि यह कथा एक चाण्डाल-कन्या द्वारा पाले गये वैशम्पायन नामक तोते ने शूद्रक राजा को सुनाई है। कादम्बरी का निम्नलिखित उद्धरण हमारे लिये महत्वपूर्ण है। बाण ने चाण्डाल-बस्ती का जो वर्णन किया है उसी से आरम्भ करना ठीक होगा। वह इस प्रकार है :—

"मैंने बर्बरों की बस्ती देखी—दुष्कर्मों का साक्षात् बाजार। चारों ओर शिकार-रत लड़के, अपने कुत्तों को खोलते हुए, अपने बाजों को सिखाते हुए, अपने जाल सुधारते हुए, हथियार लिये हुए, मछली पकड़ते हुए, वेष-भूषा में भूतों के समान भयानक। घने बांस के जंगलों से घिरी उनकी बस्तियों के दरवाजों का अनुमान जहाँ-तहाँ उठने वाले घरों के धुयें से लग सकता था, चारों ओर के घेरे में खोपड़ियाँ लगी हुईं; रास्ते में कूड़े के ढेर पर हड्डियाँ पड़ी हुईं, झोपड़ियों के आँगन में रक्त चर्बी और मांस के टुकड़ों का कीचड़। उनका जीवन शिकार का, भोजन मांस का, तेल-फुलेल चर्बी का, वस्त्र मोटे खुरदुरे रेशम के, आसन सूखे चमड़े के, घरों के पहरेदार कुत्ते; चढ़ने के लिये पशु-गायें, आदमी के लिये काम, स्त्री और शराब; देवताओं के लिये बलि रक्त की, पशु-वध। वह जगह साक्षात् नरक की मूर्ति थी।"

इस प्रकार की बस्ती में से चाण्डाल-कन्या अपने तोते के साथ राजा शूद्रक के महल को जाती है। राजा शूद्रक अपने दरबारियों के साथ दरबार में विराजमान है। द्वार-पालिका अन्दर आती है और निम्न प्रकार की सूचना देती है :—

"महाराज, दक्षिण से आई हुई एक चांडाल-कन्या द्वार पर खड़ी है। वह उस त्रिशंकु-वंश की शोभा है जो आकाश पर चढ़ा था, किन्तु क्रोधी इन्द्र के वज्र-प्रहार के कारण भूमि पर गिरा। उसके पास पिंजरे में एक तोता है और वह मेरे द्वारा श्रीमान् से यह निवेदन करती है: 'महाराज, आप समुद्र की तरह संसार के सारे रत्नों को ग्रहण करने के अधिकारी हैं। यह समझ कर कि यह तोता संसार का एक अद्भुत आश्चर्य और अमूल्य रत्न है, मैं आपको समर्पित करने के लिये लाई हूँ और आपके दर्शन करना चाहती हूँ, हे राजन्।' आपने उसका सन्देश सुन लिया। अब आप जो आज्ञा दें।"

इस प्रकार उसने अपना परिचय दिया। राजा ने, जिसकी उत्सुकता

जागृत हो गई थी, दरबारियों की ओर देखा और 'क्यों नहीं, उसे आने दो' कह अपनी आज्ञा दे दी।

तब राजाज्ञा पाते ही द्वार-पालिका ने उस चांडाल-कन्या को अन्दर आने दिया। वह चली आई।

राजा और उसके दरबारियों ने पहले उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। राजा का ध्यान आकर्षित करने के लिये उसने चित्रित फर्श को बाँस से ठोका। इसके आगे बाण उसके सौन्दर्य का वर्णन करता है :—

"तब राजा ने 'उधर देखो' कह कर द्वार-पालिका के निर्देशानुसार उस चांडाल-कन्या की वेश-भूषा की ओर बड़े ध्यान से देखा। उसके आगे २ एक आदमी चल रहा था, जिसके बालोंको उसकी दीर्घ आयुने सफ़ेद कर दिया था; जिसकी आँखें कमल की तरह लाल थीं; जिसके अंग, विगत-तारुण्य होने पर भी लगातार परिश्रम के कारण मजबूत थे; उसकी शकल-सूरत यद्यपि मातंग की थी, तो भी उपेक्षणीय नहीं थी, और जो दरबार के योग्य श्वेत वस्त्र धारण किये हुए था। उसके पीछे-पीछे एक चांडाल लड़का था, जिसके बाल उसके दोनों कन्धों पर लटके हुए थे। उसके हाथ में एक पिंजरा था। पिंजरे की सीखों का रंग यद्यपि सुनहरा था, तो भी वह तोते की कलंगी की छाया पड़ने के कारण नीलम की तरह चमकती थीं। वह (चांडाल-कन्या) स्वयं अपने साँवले रंग के कारण उस कृष्ण के सदृश थी, जिसने एक बार असुरों से अमृत छीनने के लिये स्त्री-भेष धारण किया था। वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानों नीलम की प्रतिमा चली जा रही हो। उसके नीले वस्त्रों पर, जो एड़ी तक लटके हुए थे, लाल रंग के रेशम की एक चादर पड़ी थी, मानो सन्ध्याकालीन सूर्य नीले कमल पर चमक रहा हो। उसके कान से लटकती हुई बाली के कारण उसके गाल का रंग सफेद हो गया था, जैसे उगते हुए चन्द्रमा की किरणों के कारण रात्रि का मुखड़ा। उसके माथे पर गोरोचन का एक छोटा-सा तिलक था, मानो वह एक तीसरी आँख हो, वह शिवजी के अंग पर सजी पर्वतारोहिणी पार्वती-सी लगती थी।

"वह श्री (लक्ष्मी) की तरह शोभायमान थी, जिसके वस्त्र नारायण की नील-वर्ण छाया की शोभा से सुशोभित थे; अथवा रति की तरह, जिसे क्रोधी शिव द्वारा दहन किये गये काम देव की आग से उत्पन्न होने वाले धुयें ने काला कर दिया था; अथवा यमुना की तरह, जो बलराम के हल से खींची जाने के डर से भागी जा रही थी, अथवा गहरी लाख से जिसने उसके कमल जैसे चरणों में से कोंपलें निकाल दीं, ठीक वैसे ही जैसे दुर्गा के रक्त-चरण जिसने अभी महिषासुर का दलन किया हो।

"उसकी उंगलियों की गहरी लाली के कारण उसके नाखून गुलाबी रंग के थे, चित्रित फर्श उसके कोमल स्पर्श के लिए अति कठोर था। वह आगे बढ़ी और उसने अपने पाँव जमीन पर ऐसे टेक दिये मानो दो कोमल टहनियाँ हों।

"उसके पाँव से निकलने वाली अग्नि-वर्ण किरणें उसे ऐसे घेरे हुए थीं, मानो वह अग्नि (-देवता) के बाहुओं में घिरी हो, मानो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वह उसके जन्म-दूषण को दूर कर ब्रह्मा के 'कुल' को 'अकुल' करना चाहता हो।

"उसकी कमर ऐसी थी मानो प्रेम के हाथी के माथे पर तारों की पंक्ति जड़ी हो, उसकी माला बड़े-बड़े चमकदार मोतियों की एक लड़ी थी; मानो गंगा की धारा जिसे अभी-अभी यमुना ने रंगत दी हो।

शरद्-ऋतु की भाँति उसने अपने कमल-सदृश नयन खोले, वर्षा-ऋतु के बादलों जैसे उसके काले-काले बाल थे, मलय-पर्वत की शृंखला की तरह वह चन्दन से लदी थी, राशि-चक्र की तरह वह मोतियों से जड़ी थी; सरस्वती की तरह उसका हाथ कमल की तरह सुन्दर था; मूर्छा की तरह वह हृदय पर अधिकार करती थी; वन की तरह उसके पास जीवित सौन्दर्य था; देवकन्या की तरह उस पर किसी का अधिकार न था; निद्रा की तरह वह आँखों पर जादू करती थी; जिस प्रकार जंगल में एक कमल-सरोवर हाथियों से उपद्रुत रहता है, उसी प्रकार अपने आवरा-जन्म के कारण कुछ [illegible]

की तरह वह केवल आंखों को सुख देने वाली थी: बसन्त के फूलों की तरह वह जाति-पुष्प विहीन थी; कामदेव के धनुष की तरह उसकी पतली कमर हाथ से तानी जा सकती थी; और उसके घुंघराले बाल, अल्कापुरी के यक्ष-राज की लक्ष्मी के समान थे। उसका तारुण्य अभी खिला ही था, वह अत्यन्त सुन्दर थी। राजा को आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा "विधाता ने, इस सौन्दर्य को अस्थान (अनुचित स्थान पर) उत्पन्न किया। क्योंकि यदि वह अपने चांडाल रूप का उपहास करने के लिये पैदा हुई है, कि सारे संसार के सौन्दर्य रूपी धन का, उसके द्वारा उपहास होता है, तो वह एक ऐसी जाति में क्यों पैदा हुई, कि कोई उसका उपयोग ही न कर सके, निःसन्देह प्रजापति ने केवल अपनी कल्पना से ही इसकी रचना की है। उसे डर रहा कि मातंग-जाति के स्पर्श से कहीं उसे दण्ड न भोगना पड़े अन्यथा यह अछूत सौंदर्य, जो हाथ से दबाये अंगों में आ ही नहीं सकता, कहां से आया ? और, यद्यपि इसका रूप सुन्दर है, तो भी अपने जन्म की नीचता के कारण, वह मर्त्यलोक की लक्ष्मी की तरह देवताओं की निरन्तर निन्दा का कारण है; तथा अपने सौंदर्य के ही कारण इस प्रकार की विचित्र रचना करने वाले ब्रह्मा के मन में भय का संचार करती है।" जिस समय राजा इस प्रकार सोच रहा था, वह कन्या, बड़े विश्वास के साथ जो उसकी आयु से परे की चीज थी—राजा के सामने झुकी, वह कानों तक फूलों से लदी हुई थी। जिस समय वह प्रणाम करके चित्रित फर्श पर आगे चली तो उसके सेवक ने वह तोता लिया जो अभी पिंजरे में पड़ा था; और दो चार कदम आगे बढ़ कर उसे राजा को दिखाते हुए कहा —

"श्रीमान् ! इस तोते का नाम वैशम्पायन है। यह सब शास्त्रों का अर्थ जानता है। यह राजनीति के व्यवहार में कुशल है। यह कथा, इतिहास और पुराण का पंडित है। यह संगीत के लय-ताल में सुपरि-चित है। यह सुन्दर अद्वितीय आधुनिक गीतकाव्यों, नाटकों और कविताओं की रचना करता है तथा हमें सुनाता है। यह वाक्पटु है और वीणा, बांसुरी, तथा मृदंग-वादन में अद्वितीय है। यह नृत्यकला का पंडित

है और चित्र-कला में भी चतुर है।' यह क्रीड़ा में भी बहादुर है, और प्रेमकलह में क्रोधित तरुणी को शांत करने के उपाय खोज निकालने में भी पंडित है। यह हाथियों, घोड़ों, आदमियों तथा स्त्रियों के लक्षण का ज्ञाता है। यह सारी पृथ्वी का रत्न है। मेरे स्वामी की पुत्री, यही विचार करके कि जिस प्रकार मोतियों का स्थान समुद्र है, उसी प्रकार पृथ्वी के धन आपके हैं, इसे आपको समर्पित करने के लिये लाई है। हे राजन्! इसे स्वीकार करें।"

चाण्डाल-कन्या का यह वर्णन पढ़ते हैं तो अनेक प्रश्न पैदा होते हैं। पहले तो यही कि यह वर्णन फाहियान के वर्णन से कितना भिन्न है? दूसरे बाण, एक वात्स्यायन ब्राह्मण है। इस वात्स्यायन ब्राह्मण को चांडाल-बस्ती का ऐसा वर्णन कर चुकने के बाद चांडाल-कन्या का ऐसा ठाट-बाट का वर्णन करने में कुछ संकोच नहीं होता। क्या इस वर्णन का 'अछूतपन' के साथ जुड़ी हुई पहले दर्जे की घृणा की भावना के साथ मेल बैठता है? यदि चांडाल अछूत थे, तो एक अछूत-कन्या राजा के महल में कैसे जा सकती थी? एक अछूत के लिये बाण इस प्रकार की भाषा कैसे उपयोग में ला सकता था? पतित होने की बात तो बहुत दूर है; बाण के समय में चाण्डालों में राजवंश भी थे। बाण ही चाण्डाल-कन्या को चाण्डाल-राजकुमारी कहता है। बाण ने कादम्बरी को ६०० ई० के आस-पास लिखा। इसका अर्थ हुआ कि ६०० ई० तक चाण्डाल अछूत नहीं समझे जाते थे। इससे यह एकदम सम्भव मालूम होता है कि फाहियान ने जिस अवस्था का वर्णन किया है वह यद्यपि अछूतपन की सीमा को स्पर्श करती है किन्तु वह अछूतपन नहीं भी हो सकती। सम्भव है कि यह अपवित्रता की ही एक सीमा हो। ब्राह्मणों को इस प्रकार की 'पवित्रता' को लेकर अति करने की बुरी आदत रही ही है। यह बात और भी अधिक सम्भव प्रतीत होती है यदि हम यह बात याद रखें कि जब फाहियान भारत आया उस समय यहाँ गुप्त राजाओं का राज्य था। गुप्त-नरेश ब्राह्मण-वाद के समर्थक थे। यही वह समय है जब ब्राह्मण-वाद का पुनरुद्धार हुआ और वह विजयी

हुआ। यह एकदम सम्भव है कि फाहियान जिस चीज का वर्णन करता है वह 'अछूतपन' नहीं है किन्तु वह एक सीमा है जहाँ तक ब्राह्मण इस संस्कार-गत अपवित्रता को खींचकर ले जाना चाहते थे। यह संस्कार-गत अपवित्रता कुछ जातियों—विशेष रूप से चाण्डालों—के साथ जुड़ गई थी।

दूसरा चीनी यात्री जो भारत आया उसका नाम यूवान-च्वांग था। वह ६२६ ई० में भारत आया। वह भारत में सोलह वर्ष रहा और लोगों के रीति-रस्मों और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक की गई अपनी यात्राओं का बहुत ही सच्चा-सच्चा लेखा अपने पीछे छोड़ गया है। भारत के मकानों और शहरों की सामान्य अवस्था का वर्णन करते हुए वह कहता है—

"जिन बस्तियों और शहरों में वे रहते हैं उन शहरों अथवा प्रदेशों की चार-दीवारी ऊँची और चौड़ी हैं किन्तु सड़कें तंग और टेढ़ी-मेढ़ी हैं। दुकानें सड़कों पर हैं और सरायें सड़क के किनारे-किनारे हैं। कसाई-धोबी, नट-नर्तक, बधिक, और भंगियों की बस्ती एक निश्चित चिन्ह द्वारा पृथक् की गई हैं। वे शहर से बाहर रहने के लिये मजबूर किये जाते हैं, और जब कभी उन्हें किसी घर के पास से गुजरना होता है तो वे बायीं ओर बहुत दबकर निकलते हैं।"

ऊपर का उदाहरण इतना अधिक छोटा है कि उससे कोई निश्चित परिणाम निकालना असम्भव है। लेकिन इसमें एक बात महत्व की है, और वह यह कि फाहियान का जो वर्णन है वह केवल चाण्डालों से सम्बन्ध रखता है, और यूवान-च्वांग का वर्णन चांडालों के अतिरिक्त दूसरी जातियों पर भी लागू होता है। यह एक बड़े ही महत्व की बात है। ऐसे वर्णन के विरुद्ध कोई ऐसा-वैसा तर्क नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह चाण्डालों के अतिरिक्त दूसरी जातियों पर भी लागू है। इसलिये यह एकदम सम्भव है कि जब यूवान-च्वांग भारत आया तो अछूतपन की उत्पत्ति हो गई थी।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उसके आधार पर हम यह कह

सकते हैं कि २०० ई० में तो अछूतपन का अस्तित्व नहीं था, किन्तु ६०० ई० तक इसका जन्म हो गया था।

अछूतपन की उत्पत्ति का निर्णय करने के लिये यह दो ऊपर और नीचे की सीमायें हैं। क्या हम 'अछूतपन' की उत्पत्ति की कोई ऐसी तिथि निश्चित कर सकते हैं, जो लगभग ठीक हो। मैं समझता हूँ कि यदि हम गो-मांसाहार से आरम्भ करें तो हम कर सकते हैं। गो-मांसाहार ही 'अछूतपन' के मूल निहित है। यदि हम गो-मांसाहार-निषेध को अपने चिंतन की आधार-शिला बनायें तो इसका यह मतलब होता है कि 'अछूतपन' की उत्पत्ति का गोवध तथा गो-मांसाहार-निषेध से सीधा संबंध होना चाहिये। यदि हम यह बता सकें कि गोवध किस समय एक अपराध बना, और गो-मांसाहार किस समय पाप बना तो हम 'अछूतपन' की उत्पत्ति की एक ऐसी तिथि निश्चित कर सकते हैं, जो लगभग ठीक हो।

गो-वध कब एक अपराध घोषित किया गया ?

हम जानते हैं कि मनु ने न तो गो-मांसाहार का निषेध किया और न गो-वध को ही एक अपराध ठहराया। यह अपराध कब बना ? जैसा कि डा० डी० आर० भण्डारकर ने स्पष्ट किया है। चौथी ई० में किसी समय गुप्त-नरेशों द्वारा गो-वध प्राण-दण्डनीय अपराध घोषित हुआ।

इसलिये हम कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि अछूतपन ४०० ई० के आस-पास किसी समय पैदा हुआ। यह बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के संघर्ष में से पैदा हुआ है। इस संघर्ष ने भारत के इतिहास को पूरी तरह बदल दिया है। खेद है कि भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों ने इसके अध्ययन की उपेक्षा की है।

समाप्त